॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतः

पञ्चतन्त्र-मित्रसम्प्राप्तिः

'सरला' हिन्दीटीकोपेता

(द्वितीयं तन्त्रम्)

टीकाकारः—

स्व० गोकुलनाथ शुक्ल

Bhawan's ... acharya Sanskrit Mahavidyalaya

736

Bharatiya ... ★

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

१९७५

प्रकाशक :

चौखम्बा विद्याभवन

पो० बा० ६९, (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

चौक, वाराणसी–२२१००१

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Vidya ...

736

सर्वाधिकार सुरक्षित

तृतीय संस्करण १९७५

मूल्य २-५० रुपया

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. ३७/११७, गोपालमंदिर लेन, पो० बा० १२९

वाराणसी–२२१००१.

मुद्रक :

चौखम्बा मुद्रणालय

वाराणसी ।

॥ श्रीः ॥

पञ्चतन्त्रम्

अथ मित्रसम्प्राप्तिः

(द्वितीयं यन्त्रम्)

अथेदमा भ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम् । यस्यायमाद्यः
ः—

मित्रसम्प्राप्ति नामक द्वितीय तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है, जिसका यह
श्लोक है—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥ १ ॥

सार-व्यवहार में निपुण, बुद्धिमान् पुरुष साधनरहित होने पर भी, कौवे, हे और कछुवे के समान अपने कार्य शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं ॥ १ ॥

द्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नग- नस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्नानाविहङ्गोपभुक्तफलः कीटैरा- श्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् । ा युक्तम्—

जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है । प ही बड़ा ऊँचा एक विशाल वटवृक्ष है । उसके फलों को सैकड़ों में लाते हैं, कीड़ों से खोखले भरे हुए हैं और वह अपनी छाया से को आराम पहुँचाता है, यह ठीक ही है—

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।

विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

जिसकी छाया में मृग गण सोते हों, जिसके पत्ते पक्षिसमूहों द्वारा ओर से ढँके हों, जिसके कोटर कीड़ों से भरे हों, जिसकी शाखाओं पर बैठे हों, जिसका पुष्प-रस भौंरे निःशंक होकर पी रहे हों और जो अपने अंगों से बहुतेरे जीवों को सुख दे रहा हो, वह वृक्ष श्लाघनीय होता है। अतिरिक्त सभी वृक्ष पृथिवी के भारभूत होते हैं ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् यात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्ण स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिङ्कराकारो नरः संमुखो बभूव। अ दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—'यदयं दुरात्माद्य ममाश्रयवटपा समुखोऽभ्येति। तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां सं भविष्यति न वा।' एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटप गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—'भोः, अयं दुरात्मा लुब्धको जालत लहस्तः समभ्येति। तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्। एष जालं प्र तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति। ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटसदृशा व्याः। एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जालं प्रस सिन्दुवारसदृशांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः। ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्तांस्त लान्हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थुः। अत्रान्तरे चित्र नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमंस्तांस्तण्डुला तोऽपि पश्यंल्लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतद सपरिवारो निबद्धश्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

उस वृक्ष पर लघुपतनक नाम का एक कौवा रहता था। एक समय भोजन की तलाश में शहर की ओर चला कि उसी समय हाथ में जाल लिये अत्यन्त काले शरीर वाला, कटे पैर वाला, जिसके बाल ऊपर को खड़े हुए (वेणीरूप में बँधे हुए बालवाला), यमदूत के समान भयंकर एक म उसके सामने आया। उसको देखकर, भयभीत हो सोचने लगा कि—यह आज मेरे निवासस्थान वट-वृक्ष के तरफ आ रहा है। इससे समझ में

आता है कि आज वट पर रहने वाले पक्षियों का नाश तो न हो जायगा? इस तरह वहुत प्रकार से सोचकर, उसी समय लौटकर, उसी वट वृक्ष के पास पहुँच सब पक्षियों से बोला—हे पक्षियों! यह दुष्ट व्याध (शिकारी) हाथ में जाल और चावल लिये हुए आ रहा है। इस पर बिलकुल विश्वास न करना। यह जाल फैलाकर चावल बिखेरेगा। उन चावलों को आप लोग हालाहल विष के समान समझें। जब वह ऐसा कह ही रहा था कि उसी समय वह शिकारी वट के नीचे पहुँच कर, जाल फैला कर और सिन्दुवार के फूलों के समान चावल बिखेर कर कुछ ही पास जाकर छिप कर बैठ गया। उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षी लघुपतनक की वाक्यरूपी अर्गला से रोके जाकर, उन चावलों को हालाहल के अङ्कुरों के समान समझते हुए चुपचाप बैठे रहे। इसी समय चित्रग्रीव नामक कबूतरों का राजा साथ में हजारों कबूतर लिये हुए भोजन की तलाश में घूमाता हुआ (वहाँ आया) उन चावलों को दूर से ही देखकर लघुपतनक के रोकने पर भी जिह्वा की चपलता से खाने के लिये उनपर उतर पड़ा और परिवार सहित जाल में फँस गया। यह ठीक ही कहा है—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम्।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते॥ ३॥

जीभ की चपलता से फँसी हुई, जल के बीच में रहने वाली मछलियों के समान मूर्ख पुरुषों को अचानक मृत्यु उपस्थित हो जाती है॥ ३॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवत्येवम्। न तस्य दोषोऽस्ति। उक्तं च—

अथवा भाग्य की प्रतिकूलता से यह सब होता है। उसका दोष नहीं है। कहा भी है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते॥ ४॥

रावण ने दूसरे की स्त्री को हरण करने में क्यों न बुराई समझी, राम ने सोने के हिरन की असम्भवता क्यों न समझी, युधिष्ठिर ने भी जुआ खेलकर अकस्मात् वनवास रूप अनर्थ क्यों पाया। (भविष्य में) शीघ्र आने वाली विपत्ति से जिनका मन भ्रान्त हो गया है ऐसे पुरुषों की बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है॥ ४॥

तथा च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

और देखो—यम के पाश में बँधे हुए और दैव ने जिनका विवेक नष्ट क दिया है ऐसे महापुरुषों की भी बुद्धियाँ कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधा॰ प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्त दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे—'अहो, न भेतव्यम् । उक्तं च—

तब शिकारी, उनको बँधा हुआ समझकर प्रसन्न मन से लट्ठ उठा क उनको मारने के लिये दौड़ा । चित्रग्रीव ने परिवार सहित अपने को बँधा हु समझ तथा शिकारी को आता हुआ देखकर उन कबूतरों से कहा—डरना न चाहिए । कहा भी है—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

जिस पुरुष की बुद्धि सब तरह की विपत्तियाँ उपस्थित होने पर भी भ्र नहीं होती वह पुरुष, उस बुद्धि के प्रभाव से उन व्यसनों को पार कर जाता है ॥ ६ ॥

संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

संपत्ति और विपत्ति के समय महान् पुरुष समान भाव से रहते हैं । कि सूर्य उदय और अस्त दोनों समय रक्तवर्ण रहता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शनं गत्वा मु प्राप्नुमः । नो चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ । ततो मृत्युमवाप्स्यथ । उक्त च—

इसलिये हम सब इस जाल के सहित आसानी से उड़ जावें और इसक आँखों से परे होकर छुटकारा पावें; नहीं तो डर से घबड़ाकर यदि न उड़ेंगे तो मृत्यु को प्राप्त होंगे । कहा भी है—

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

तन्तु सूक्ष्म (पतले) और लम्बे होने पर भी यदि बहुत और बराबर हो तो वे बहुत होने के कारण बहुत से झटकों (अथवा बोझ) को सह लेते हैं; यही सज्जनों के लिए दृष्टान्त है, अर्थात् अच्छे मनुष्य निर्बल होने पर भी यदि दूसरों के साथ मिलकर काम करें तो क्लेशों को पारकर सफलता प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमेनमपठत्—

ऐसा करने पर (जाल लेकर उड़ जाने पर) शिकारी जमीन पर ही जाल लेकर आकाश में उड़ते हुए उन पक्षियों के पीछे दौड़ा । तब ऊपर—आकाश की ओर मुख करके यह श्लोक पढ़ने लगा—

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

ये पक्षी केवल मिले होने के कारण जाल लेकर चले जा रहे हैं । इसमें सन्देह नहीं कि जब ये आपस में झगड़ा करेंगे तब गिरेंगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरतां गतान्विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठन्निवृत्तश्च ।

लघुपतनक भी भोजन की तलाश छोड़कर 'देखें इसमें अब क्या होता है', इस कुतूहल से उनके पीछे-पीछे जाने लगा । अनन्तर शिकारी उनको अदृश्य जानकर निराश हो गया और यह श्लोक पढ़ता हुआ लौट गया ।

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १० ॥

जो नहीं होना है वह कभी नहीं होगा और होनहार बिना यत्न के भी होकर ही रहेगा । जिस वस्तु का होना (भाग्य में) नहीं बदा है वह हाथ में आने पर भी नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥

तथा च—

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद्द्रविणोदयः ।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर, यदि किसी प्रकार कुछ धन मिल भी जाय तो पूर्वसंचित को भी लेकर शङ्खनिधि के समान नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तदास्तां तावद्विहङ्गामिषलोभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं जालमपि मे नष्टम्। चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच—'भोः निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः। तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे। तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति। उक्तं च—

पक्षियों के मांस की प्राप्ति तो जाने दो (कैसा दुर्भाग्य है कि) मेरे कुटुम्ब के पालन का साधन मेरा जाल भी जाता रहा है। चित्रग्रीव ने शिकारी को पीछे छूटा जानकर उन कबूतरों से कहा—वह दुष्ट व्याध लौट गया, इसलिए सब निडर होकर महिलारोप्य नगर के पूर्वोत्तर दिशा में चलो। वहाँ मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहा रहता है। वह सबके बन्धन काट देगा। कहा भी है—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न संदधे॥ १२॥

सभी मनुष्यों को व्यसन–विपत्ति पड़ने पर, मित्र के सिवाय कोई दूसरा मनुष्य वाणीमात्र से भी सहायता नहीं करता॥ १२॥

एवं ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यकबिलदुर्गं प्रापुः। हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभयः सुखेनास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रग्रीव के इस प्रकार कहने पर वे कबूतर महिलारोप्य नगर में हिरण्यक के बिल के पास पहुँचे। वहाँ हिरण्यक हजार मुखवाले बिलरूपी दुर्ग में प्रविष्ट हुआ सब तरह से निर्भय हो सुख से रहता था। ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः॥ १३॥

जिस प्रकार दाँतरहित साँप और मदरहित हाथी सबके वश में हो जाता है वैसे ही दुर्गरहित राजा सबके वश में हो जाता है॥ १३॥

तथा च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे॥ १४॥

और भी—युद्ध में राजाओं का एक किले से जो काम निकलता है वह हजार हाथियों और लाखों घोड़ों से भी नहीं सिद्ध हो सकता॥ १४॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः॥ १५॥

किले की दीवार पर खड़ा हुआ अकेला धनुर्धारी सैकड़ों के साथ युद्ध कर सकता है। इसलिये नीतिशास्त्रवेत्ता पुरुष किले को अच्छा समझते हैं॥ १५॥

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो भो मित्र हिरण्यक, सत्वरमागच्छ। महती मे व्यसनावस्था वर्तते'। तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच—'भोः, को भवान्। किमर्थमायातः। किं कारणम्। कीदृक्ते व्यसनावस्थानम्। तत्कथ्यताम्' इति। तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—'भोः, चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत्। तत्सत्वरमागच्छ। गुरुतरं प्रयोजनमस्ति।' तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्तः।

अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रग्रीव ने बिल के पास पहुँच कर जोर से पुकारा—हे मित्र हिरण्यक! जल्दी आओ। मैं बड़ी विपत्ति में पड़ा हूँ। यह सुनकर हिरण्यक बिलरूपी किले के अन्दर से ही बोला—आप कौन हैं? क्यों आये हैं? क्या कारण है? आपको विपत्ति कैसी है? (उसका स्वरूप क्या है?) यह सब बताइये। यह सुन कर चित्रग्रीव ने कहा—हे (मूषक)! कबूतरों का राजा, तेरा मित्र, मैं चित्रग्रीव हूँ। इसलिये जल्दी आओ। बड़ा मारी काम है। यह सुन कर हिरण्यक के (आनन्द से) रोम खड़े हो गये और वह प्रसन्न चित्त होकर निर्भय मन से जल्दी-जल्दी बाहर निकला। ठीक ही कहा है—

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः।
गृहे गृहवतां नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम्॥ १६॥

स्नेहपूर्ण, नेत्रोंको आनन्द देने वाले (जिनको देखकर नेत्रों को आनन्द प्राप्त हो) मित्र गृहस्थ पुरुषों के घर सर्वदा नहीं आते॥ १६॥

आदित्यस्योदयं तात ताम्बूलं भारतो कथा।
इष्टा भार्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने॥ १७॥

सूर्योदय, पान का बीड़ा, महाभारत की कथा, पतिव्रता पत्नी और सच्चा मित्र ये सब नित्य नया सुख देने वाले होते हैं॥ १७॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम्॥ १८॥

जिस पुरुष के घर मित्र नित्य ही आते रहते हैं उसके चित्त में जो सु होता है वह स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता ॥ १८ ॥

अथ चित्रग्रीवं सपरिवारं पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषाद मिदमाह—'भोः, किमेतत् ।' स आह—भोः, जानन्नपि किं पृच्छसि उक्तं च यतः —

अनन्तर चित्रग्रीव को परिवारसहित बँधा हुआ देखकर हिरण्यक दुःख पूर्वक बोला—'यह क्या (हालत) है !' वह बोला—'जानते हुए भी क्यो पूछते हो ? क्योंकि कहा भी है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ १९ ॥

भाग्यवश पुरुष (पूर्वजन्म में किये हुए) अपने अच्छे या बुरे कर्मों का उसी स्थान से, उसी कारण से, उसी समय, उसी प्रकार, वही और उतना ही फल पाता है, जिस स्थान से, जिस कारण से, जिस समय, जिस प्रकार जो और जितना उसे प्राप्त है ॥ १९ ॥

तत्प्राप्तं मयैतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात् । साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशवि-मोक्षं कुरु ।' तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राहः—

इसलिये मैंने जिह्वा की चपलता से यह बन्धन पाया, अब तुम जल्दी बन्धन से छुड़ाओ । यह सुनकर हिरण्यक बोला—

'अर्धार्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः ।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्बन्धनं न च पश्यति ॥२० ॥

पक्षी ५०–५० योजन से अपनी भोग्य वस्तु को देख लेता है, लेकिन दुर्भाग्य से वही पक्षी पास में स्थित बन्धन को नहीं देख पाता ॥ २० ॥

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ २१ ॥

और भी—सूर्य और चन्द्रमा के राहु से ग्रसे जाने; हाथी, साँप और पक्षियों के बन्धन और बुद्धिमानों की दरिद्रता देखकर मेरा विचार होता है कि भाग्य अत्यन्त बलवान् है । यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ २१ ॥

तथा च—

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥ २२॥

और भी—आकाश के एक हिस्से में उड़नेवाले भी पक्षी विपद को प्राप्त होते हैं, निपुण मनुष्यों द्वारा अथाह समुद्र से भी मछलियाँ पकड़ ली जाती हैं। इस संसार में पाप और पुण्य क्या है? गौरवान्वित पदवी (अथवा उत्तम स्थान) पाने से ही क्या लाभ? काल हाथ फैलाकर सर्व प्राणियों को दूर से ही खींच लेता है॥ २२॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—'भद्र' मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भोः, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः।' स आह—'भद्र, मा मैवं वद। मदाश्रयाः सर्व एते वराकाः। अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत्कथमेतावन्मात्रमपि संमानं न करोमि। उक्तं च—

यह कहकर चित्रग्रीव का बन्धन काटने के लिये उद्यत हुए उससे (हिरण्यक से) उसने कहा—भद्र! ऐसा मत करो, पहिले मेरे भृत्यों का बन्धन काटो उसके बाद मेरा भी (काटना)। यह सुनकर हिरण्यक ने गुस्से में कहा—तुमने ठीक नहीं कहा, स्वामी के बाद नौकर होते हैं—पहिले स्वामी का काम करके पीछे नौकरों का काम किया जाता है। उसने कहा—भद्र! ऐसा मत कहो। बेचारे ये सब कबूतर मेरे आश्रित हैं, दूसरे अपने कुटुम्ब को छोड़कर आये हैं, तो क्यों मैं इतना भी सम्मान न करूँ? कहा भी है—

यः संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम्।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित्॥ २३॥

जो राजा हमेशा भृत्यों का अधिक सम्मान करता है, उसका भृत्य धन के न होने पर भी अपने सम्मान का स्मरण कर उस राजा को कभी नहीं छोड़ता॥ २३॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते॥ २४॥

क्योंकि—विश्वास ही अभ्युदय का कारण है, उसी विश्वास से हाथी यूथपति होता है—अन्य हाथी उसे घेरे रहते हैं। किन्तु सिंह को मृगों का राजा होने पर भी उसे पशु नहीं घेरते ॥ २४ ॥

अपरं मम कदाचित्पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति। अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति। तन्नून मम नरकपात एव। उक्तं च—

दूसरी बात यह भी है कि—मेरा बन्धन काटते हुए कभी तुम्हारा दाँत टूट जाय अथवा दुष्ट व्याध ही आ जाय तो निश्चय ही मुझे नरक मिलेगा।

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २५ ॥

जो स्वामी अनुरक्त भृत्यों की दुःखावस्था में सुखी-निश्चिन्त रहता है, वह परलोक में नरक को प्राप्त होता है और इस लोक में कष्ट पाता है ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह—'भोः, वेद्म्यहं राजधर्मम्। परं मया तव परीक्षा कृता। तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि। भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति। उक्तं च—

यह सुनकर प्रसन्न हुए हिरण्यक ने कहा—हे (चित्रग्रीव) मैं राजकर्त्तव्य को समझता हूँ। लेकिन मैंने तुम्हारी परीक्षा की थी। इसलिये प्रथम मैं सब के बन्धन काटूँगा। आपका भी इस रीति से कबूतरों का परिवार बढ़ जायगा।

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा।
संभवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २६ ॥

कहा भी है—जिस राजा की अपने भृत्यों पर सदा दया रहती है वह राजा तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह—मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति। भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्।' इति तान्संप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः। चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कह और सब के बन्धन काट कर हिरण्यक ने चित्रग्रीव से कहा—मित्र, अब अपने स्थान को जाओ। विपत्ति पड़ने पर फिर भी आना। इस प्रकार उनको विदा करके फिर भी दुर्ग-बिल में घुस गया। चित्रग्रीव भी परिवारसहित अपने स्थान को चला गया। यह ठीक ही कहा है—

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानपि वै यतः।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः॥ २७॥

चूँकि मित्रवान् पुरुष कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है। इसलिये (मनुष्य को चाहिए कि) अपने अनुरूप मित्र बनावे ॥ २७ ॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्—'अहो बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च। तदीदृगेव विधिविहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मकः। अहं च न कस्यचिद्विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च। तथाप्येनं मित्रं करोमि। उक्तं च—

लघुपतनक उन सब चित्रग्रीव के बन्धन छुटकारे (छुटने के प्रकार) को देखकर आश्चर्यान्वित हो सोचने लगा—ओः, इस हिरण्यक की बुद्धि कैसी तीव्र है, इसकी शक्ति और दुर्ग की रचना कैसी अदभुत है। पक्षियों के बन्धन से छूटने के लिये यही रीति है (ऐसे ही मित्रों का होना ऐसे समय में काम आता है) इधर मैं किसी पर विश्वास नहीं करता, स्वभाव से भी चञ्चल हूँ। तो भी इसको मित्र बनाऊँ। कहा भी है—

अपि संपूर्णतायुक्तैः कर्तव्याः सुहृदो बुधैः।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते॥ २८॥

धनधान्य पूर्ण रहते हुए भी समझदार मनुष्यों को मित्र बनाना चाहिए। देखो–(जल से) परिपूर्ण भी समुद्र चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करता है ॥२८॥

एवं संप्रधार्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्—'एह्येहि भो हिरण्यक, एहि।' तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्—'किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति।' आह च—'भोः, को भवान्।' स आह—'अहं लघुपतनको नाम वायसः।' तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—'भोः, द्रुतं गम्यतामस्मात्स्थानात्।' वायस आह—'अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः। तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम्।' हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति त्वया सह संगमेन प्रयोजनम्' इति। स आह—'भोः, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम्। तेन मम महती प्रीतिः संजाता। तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति। तत्क्रियतां मया सह मैत्री।' हिरण्यक आह—'अहो, त्वं भोक्ता। अहं

ते भोज्यभूतः। तत्का त्वया सह मम मैत्री। तद्गम्यताम्। मैत्री विरोधभावात्कथम्। उक्तं च—

ऐसा निश्चय कर और वृक्ष से उतर कर वह विल के दरवाजे पर पहुँचा और उसने चित्रग्रीव की तरह आवाज से हिरण्यक को पुकारा—'आओ आओ हे हिरण्यक ! आओ।' उस (के) शब्द को सुनकर हिरण्यक ने विचारा—'क्या कोई और भी कबूतर छूटने से बाकी रह गया है जो मुझे बुलाता है ?' और कहा—'तुम कौन हो ?' वह बोला—'मैं लघुपतनक नामक कौवा हूँ' यह सुन और भी अन्दर घुसकर हिरण्यक ने कहा 'इस स्थान से जल्दी चले जाओ, कौवा बोला—'मैं तुम्हारे पास बड़े काम से आया हूँ फिर मेरे साथ मिलते क्यों नहीं ?' हिरण्यक ने कहा—'तुझसे मिलने का मेरा कोई काम नहीं' वह बोला—'मैंने तेरे पाससे (तेरे द्वारा) चित्रग्रीव का बन्धन से छुटकारा देखा है इससे मुझे बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई है। कभी मेरे भी वन्धन में पड़ने पर तेरे द्वारा मेरी भी मुक्ति हो जाय; इसलिये मेरे साथ मित्रता कर लो' हिरण्यक ने कहा—'तुम खाने वाले और मैं (तुम्हारा) भोजन हूँ, फिर तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी ? इसलिये मैत्री के साथ विरोध होने से तुम्हारे साथ हमारी मित्रता स्वभावविरुद्ध है इसलिये तुम चले जाओ। कहा भी है—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ २९ ॥

जिनका धन समान हो, जिनका खानदान समान हो उन्हीं का परस्पर विवाह और मित्रता ठीक है—न्यूनाधिक की नहीं ॥ २९ ॥

तथा च—

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः।
हीनं वाप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः ॥ ३० ॥

क्योंकि—जो अज्ञानी, दुर्बुद्धि अपने से छोटे या बड़े अर्थात् असमान के साथ मित्रता करता है वह हँसी को प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

तद्गम्यताम्' इति। वायस आह—'भो हिरण्यक, एषोऽहं तव दुर्गद्वार उपविष्टः। यदि त्वं मैत्रीं न करोषि ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि। अथवा प्रायोपवेशनं मे स्यात्' इति। हिरण्यक आह—'भोः, त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि। उक्तं च—

इसलिए कहता हूँ 'चले जाओ।' कौवा बोला—'हे हिरण्यक! यह मैं तेरे बिल के दरवाजे पर बैठा हूँ, अब अगर तू मित्रता नहीं करेगा तो मैं तेरे सामने में ही प्राणत्याग कर दूँगा। हिरण्यक बोला—'तुझ शत्रु के साथ मैं मित्रता कैसे करूँ।' कहा भी है—

वैरिणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना।
सुतप्तमपि पानीय शमयत्येव पावकम् ॥ ३१ ॥

अच्छे प्रकार सन्धि करनेवाले भी अथवा सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ मेल न करे। देखो, पानी अत्यन्त गरम होने पर भी अग्नि को बुझा ही देता है ॥ ३१ ॥

वायस आह—भोः, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति। कुतो वैरम्। तत्किमनुचितं वदसि। हिरण्यक आह—द्विविधं वैरं भवति। सहजं कृत्रिमं च। तत्सहजवैरी त्वमस्मकम्। उक्तं च—

कौवा बोला—मैंने तुम्हें कभी देखा भी नहीं फिर वैर कैसा? क्यों अनुचित बात कहते हो हिरण्यक बोला—वैर दो प्रकार का होता है, स्वाभाविक और कारणोत्पन्न, तू हमारा स्वाभाविक वैरी है। कहा भी है—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३२ ॥

कृत्रिम वैर शीघ्र ही उपकारादि अन्य साधनों से नष्ट हो जाता है। परन्तु स्वाभाविक वैर प्राणदान किये विना नष्ट नहीं होता ॥ ३२ ॥

वायस आह—'भोः, द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि। तत्कथ्यताम्।' हिरण्यक आह—'भोः, कारणेन निवृत्तं कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद्गच्छति। स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति। तद्यथा—नकुलसर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम्। न कश्चित्केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति।' वायस आह—'भोः, अकारणमेतत्। श्रूयतां मे वचनम्—

कौवा बोला—मैं उन दोनों प्रकार के वैर का लक्षण सुनना चाहता हूँ इसलिये कहिये। हिरण्यक ने कहा—हे वायस! कारण से उत्पन्न हुआ जो कृत्रिम वैर

शष्प- घास, व्यापादित := मार दिया गया

कहाता है, वह उसके योग्य उपकारादि करने से चला जाता है, परन्तु स्वाभाविक (वैर) किसी प्रकार भी नहीं जाता जैसे—नकुल और सांप का, घास खाने वाले तथा नखायुध (सिंह आदि) का, जल अग्नि का, देव और दैत्यों का, कुत्ते बिल्लियों का, अमीर गरीबों का, सौतों का, सिंह तथा हाथियों का, व्याध और हरिणों का, धर्मात्मा और अधर्मात्माओं का, मूर्ख तथा पण्डितों का, पतिव्रता तथा व्यभिचारिणी स्त्रियों का, सज्जन और दुर्जनों का—इसमें से किसी ने किसी को नहीं मारा तो भी प्राणों को कष्ट देते ही हैं। कौवे ने कहा—यह कारण ठीक नहीं है। मेरी बात सुनो—

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता॥ ३३॥

(मनुष्य उपकारादि) कारण से मित्रता को प्राप्त होता तथा (अपकारादि) कारण से ही शत्रुता को प्राप्त होता है। इसलिये इस संसार में बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह मित्रता ही करे, न कि शत्रुता॥ ३३॥

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम्।'

इसलिये मित्रता के कार्य करने के लिये मेरे साथ मिलिये।

हिरण्यक आह—'भो, श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—

सकृद्दुष्टमभीष्टं यः पुनः संधातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥ ३४॥

हिरण्यक ने कहा—नीति का सारांश सुनो—जो मित्र को एक भी बार दुष्टता करने पर फिर मिलाना चाहता है—फिर उसके साथ मित्रता करना चाहता है मानो वह मृत्यु को ही ग्रहण करता है। जैसे कि खचरी गर्भधारण कर मृत्यु को ही ग्रहण करती है॥ ३४॥

अथवा गुणवाहनम्, न मे कश्चिद्वैरयातनां करिष्यति, एतदपि न संभाव्यम्। उक्त च—

अथवा—मैं गुणवान् हूँ, मुझसे कोई वैर न चुकायेगा (अथवा शत्रुता करके पीड़ा न देगा) यह भी संभव नहीं। क्योंकि कहा भी है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
र्मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥३५॥

सिंह ने व्याकरणशास्त्रप्रणेता पाणिनि मुनि के प्यारे प्राण हर लिये, हाथी ने मीमांसा के रचयिता जैमिनि मुनि को अकस्मात् मार डाला। मकर ने समुद्र के किनारे छन्दःशास्त्र के खजाने (अद्वितीय वेत्ता) पिङ्गल को मार डाला। अतएव मूर्खता से जिनका अन्तःकरण भरा हुआ है, अत्यन्त क्रोधी पशुपक्षियों को (दुष्ट पुरुषों को) मनुष्यों के गुणों से क्या प्रयोजन ? वे किसी के गुण-अवगुण का विचार नहीं करते ॥ ३५ ॥

वायस आह—'अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

कौवे ने कहा—यह ठीक है, तो भी सुनिये—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥३६॥

मनुष्यों की मित्रता एक दूसरे के उपकार करने से ही होती है, पशुपक्षियों की किसी कारण से, मूर्खों की भय और लोभ से और सज्जनों की मित्रता एक दूसरे के देखने से ही होती है ॥ ३६ ॥

मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसंधिश्च ॥ ३७ ॥

दुष्ट पुरुष, मिट्टी के घड़े के समान, आसानी से टूट सकता है और कठिनता से जोड़ा जा सकता है (आसानी से उसकी मित्रता नष्ट हो जाती है और फिर मुश्किल से सन्धि होती है) और सज्जन पुरुष सोने के घड़े की तरह कठिनता से टूटता और आसानी से जुड़ सकता है ॥ ३७ ॥

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार गन्ने की पोई में ऊपर से नीचे की तरफ रस अधिक होता है इस प्रकार सज्जनों की मित्रता होती है तथा दुष्टों की इससे उलटी होती है ॥३८॥

तथा च—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ३९ ॥

दुष्टों और सज्जनों की मित्रता दिन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की छाया के समान पृथक्-पृथक् होती है जैसे कि—दुष्टों की मैत्री प्रातःकालीन छाया के समान प्रारम्भ में बड़ी और फिर धीरे-धीरे घटनेवाली होती है तथा सज्जनों की मित्रता

मध्याह्नवर्ती छाया के तुल्य प्रारम्भ में छोटी और पीछे धीरे-धीरे बढ़ने वाली होती है ॥ ३९ ॥

तत्साधुरहम् । अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि ।

मैं सज्जन हूँ और तुम को शपथादि से निर्भय कर दूँगा ।

स आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः प्रत्ययः । उक्तं च—

उसने कहा—मुझे तेरी शपथों पर विश्वास नहीं है । कहा भी है—

शपथैः संधितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४० ॥

शपथों द्वारा मेल को प्राप्त हुए शत्रु का विश्वास न करे, सुना जाता है कि शपथ करके ही इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला ॥ ४० ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४१ ॥

विश्वास उत्पन्न किये बिना शत्रु देवताओं के वश में भी नहीं आ सकता, विश्वास के द्वारा ही इन्द्र ने दिति के गर्भ को खण्डित कर दिया ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत् ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४२ ॥

इसलिये—जो बुद्धिमान् पुरुष अपनी उन्नति, लम्बी आयु और सुख चाहे वह बृहस्पति का भी विश्वास न करे ॥ ४२ ॥

तथा च—

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४३ ॥

छोटे से छिद्र के द्वारा शत्रु अन्दर घुसकर नष्ट कर देता है जैसे कि जल का प्रवाह छोटे से छिद्र के द्वारा नौका में घुसकर उसको नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४४ ॥

विश्वास के अयोग्य पुरुष का कभी विश्वास न करे तथा विश्वस्त आदमी का भी अधिक विश्वास न करना चाहिए, क्योंकि विश्वास के द्वारा उत्पन्न हुआ भय जड़ों को भी काट देता है—सर्वथा नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः ।
विश्वस्ताश्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४५ ॥

विश्वास न करनेवाला दुर्बल पुरुष भी बलवानों से नहीं मारा जाता किन्तु विश्वास करनेवाले बलवान पुरुष भी दुर्बलों से मारे जाते हैं ॥ ४५ ॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च ।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसंधिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४६ ॥

चाणक्य के मतानुसार 'अच्छे प्रकार कार्य करना', शुक्राचार्य के मत से 'मित्रसंग्रह करना' और बृहस्पति के मतानुसार 'विश्वास न करना' नीति है। इस प्रकार नीति-सिद्धान्त तीन प्रकार का है ॥ ४६ ॥

तथा च—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य, अधिक धन पाकर शत्रुओं पर तथा विरक्त अपनी स्त्रियों पर विश्वास करता है, उसका जीवन वहीं तक है, वह उस विश्वास से ही मारा जाता है ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास—'अहो, बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवा स एवास्योपरि मैत्रीपक्षपातः।' स आह—'भो हिरण्यक,

यह सुनकर लघुपतनक को कोई जवाब न सूझ पड़ा और वह सोचने लगा–अहो नीति के विषय में इसका कितना अधिक ज्ञान है? इसीलिये मैं इससे मित्रता करना चाहता हूँ। तब जाहिर बोला—हे हिरण्यक!

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः ।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४८ ॥

विद्वान् लोग सात पद उच्चारण करने अथवा सात पैर साथ-साथ चलने से सज्जनों की मित्रता बताते हैं, इसलिए तू मेरा मित्र हो गया (क्योंकि तेरे साथ मेरा काफी वार्तालाप हो चुका है) अतएव मेरी बात सुन ॥ ४८ ॥

दुर्गस्थेनाऽपि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथा सर्वदा कर्तव्याः यद्येवं न विश्वसिषि।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत् विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च।

तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि कार्यः। उक्तं च—

अगर तुम विश्वास नहीं करते हो तो विल में रहते हुए भी तुम मेरे सा नित्य ही वार्तालाप तथा गुण-दोष-विवेचना और सुभाषित उत्तम-उत्तम-वच सम्बन्धी गोष्ठी तथा कथायें किया करो। यह सुनकर हिरण्यक ने सोचा—य लघुपतनक विद्वान् और सत्यवादी मालूम पड़ता है, इसलिये इसके साथ मित्र करना उचित है (प्रकाश में बोला) अच्छा, परन्तु मेरे विल में कभी पैर न रखना। कहा भी है—

भीतभीतैः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥ ४९ ॥

शत्रु पहले तो डरते-डरते और धीरे-धीरे शत्रु के नगर में प्रवेश करता तत्पश्चात् वह वैसे ही ढीठ और निर्भय होकर आगे बढ़ने लगता है जैसे जा के हाथ पराई स्त्रियों का स्पर्श करने के लिये सरलता से आगे बढ़ते हैं ॥४९॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु'। ततः प्रभृति तौ द्वाव सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयत लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृता पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति। हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यां भक्ष्यविशेषांल्लघुपतनकार्थं रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति। अथ युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तं च—

यह सुनकर कौआ बोला—भद्र! ऐसा ही हो। तब से वे दोनों सुभा गोष्ठी का सुख भोगते हुए रहने लगे और एक दूसरे का उपकार करते समय विताने लगे। लघुपतनक हिरण्यक के लिए मांस के टुकड़े, पवित्र ब शेष और अन्य प्रेम से एकत्रित किये हुए पक्वान्न आदि लाता था। हिरण्यक चावल तथा अन्य खाने योग्य वस्तु रात्रि में एकत्रित करके समय पर आये लघुपतनक को देता था। दोनों के लिये यह ठीक ही था। कहा भी है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५० ॥

देना, लेना, गोप्य बातें पूछना-कहना, खाना और खिलाना ये ६ प्री के चिह्न हैं ॥ ५० ॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथचित्कस्यचिद्भवेत्।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५१ ॥

उपकार के बिना किसी प्रकार प्रीति नहीं होती, देवता लोग भी उपयाचित वस्तु के देने से मनोरथ पूर्ण करते हैं ॥ ५१ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५२ ॥

संसार में तभी तक प्रीति स्थिर रहती है, जब तक दान दिया जाता रहता है। देखो, बछड़ा भी दूध का ह्रास देखकर माता को छोड़ देता है ॥ ५२ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५३ ॥

तुरन्त विश्वास दिलाने वाली दान की महिमा देखो, जिसके प्रभाव से शत्रु भी दान देते ही मित्र हो जाता है ॥ ५३ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य।
दत्ते खले तु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५४ ॥

मैं समझता हूँ विवेकरहित पशु को भी पुत्र से प्यारा दान होता है। देखो—खली देने पर बच्चा रहते हुए भी भैंस सारा दूध रोज दे देती है ॥ ५४ ॥

किं बहुना—

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत्।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५५ ॥

अधिक क्या ! नख और मांस के समान अटूट और कभी नष्ट न होने वाली प्रीति करके चूहा तथा कौआ कृत्रिम मित्रता को प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति। अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच—'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः संजाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि।' हिरण्यक आह—'भद्र, किं विरक्तेः कारणम्।' स आह—'भद्र, श्रूयताम्। अत्र देशे महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम्। दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति। अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विह-

ङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति। अहमप्यायुशेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि। एतद्विरक्तेः कारणम्। तेनाऽहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि।' हिरण्यक आह—'अथ भवान् क्व प्रस्थितः।' स आह—'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः। तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम। स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति। तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि। नाहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि। उक्तं च—

उस (कौवे) के उपकारों से प्रसन्न वह चूहा इतना विश्वास करने लगा कि उसके पंखों के नीचे बैठकर हमेशा उसके साथ बात-चीत किया करता था। अनन्तर किसी दिन कौवा आँखों में आँसू भरे हुए आकर गद्गद कण्ठ से बोला—'भद्र हिरण्यक! अब मुझे इस देश के ऊपर विरक्ति हो गई—अब मुझे यह स्थान अच्छा नहीं लगता, इसलिये और कहीं जाऊँगा।' हिरण्यक ने कहा—'भद्र, विरक्ति का कारण क्या है?' उसने कहा—'भद्र! सुनो, इस देश में बड़ी भारी अनावृष्टि से बहुत दिनों तक वर्षा न पड़ने से अकाल पड़ गया है। दुर्भिक्ष होने के कारण भूख से पीड़ित मनुष्य बलिमात्र भी नहीं देते। इसके अतिरिक्त घर-घर भूखे लोगों ने पक्षियों के पकड़ने के लिये जाल फैला रक्खे हैं। मैं भी फाँसे में बँध गया था परन्तु जीवनशेष होने से किसी प्रकार बच गया हूँ। यही विरक्ति का कारण है। इसीलिये मैं विदेश को जा रहा हूँ। और आँसू बहा रहा हूँ।' हिरण्यक ने कहा—'अच्छा आप कहाँ जा रहे हैं?' वह बोला—'दक्षिण देश में घने जङ्गल के बीच एक बड़ा तालाब है, वहाँ तुमसे भी अधिक परम मित्र मन्थरक नाम का कछुआ रहता है। वह मुझे मछलियों के मांस के टुकड़े देगा। उन्हें खाकर उसके साथ सुभाषित गोष्ठी का सुख भोगते हुए आराम से समय बिताऊँगा। मैं यहाँ रहकर पाशों के द्वारा पक्षियों का नाश देखना नहीं चाहता। कहा भी है—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते।
धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५६ ॥

वर्षा के न होने से, देश के उजड़ जाने तथा अन्न नष्ट हो जाने पर, हे प्रिय! जो मनुष्य देश और वंश का नाश नहीं देखते वे बड़े भाग्यशाली होते हैं ॥ ५६ ॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५७ ॥

समर्थ पुरुषों को कठिन कार्य क्या है ? उद्योगी पुरुषों को दूर क्या है ? विद्वान् पुरुषों को विदेश क्या है ? मधुरभाषी पुरुषों का पराया कौन है ? कोई भी नहीं ? ॥ ५७ ॥

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५८ ॥

विद्वत्ता और राजत्व कभी भी समान नहीं हो सकते क्योंकि राजा अपने ही देश में आदर पाता है परन्तु विद्वान् का सब जगह सत्कार होता है ॥ ५८ ॥

हिरण्यक आह—'यद्येव तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि। ममापि महद् दुःखं वर्तते। वायस आह—'भोः, तत्र किं दुःखम्। तत्कथय।' हिरण्यक आह—'भोः, बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये। तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि।' वायस आह—'अहं तावदाकाशगतिः। तत्कथं भवतो मया सह गमनम्।' स आह—'यदि मे प्राणान्रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापयिष्यसि। नान्यथा मम गतिरस्ति।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह—'यद्येव तद्धन्योऽहं यद्भवतापि सह तत्र कालं नयामि। अहं सम्पातादिकानष्टावुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि। तत्समारोह मम पृष्ठम्, येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि।' हिरण्यक आह—'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि।' स आह—

हिरण्यक ने कहा—अगर यह बात है तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा मुझे बड़ा दुःख है। कौवे ने कहा—तुम्हें क्या दुःख है सो बताओ। हिरण्यक ने कहा—इस विषय में बहुत कुछ कहना है। वहीं जाकर विस्तारपूर्वक कहूँगा। कौवे ने कहा—मैं तो आकाश में चलने वाला हूँ फिर तुम मेरे साथ कैसे चल सकते हो ? उसने कहा—यदि तुम मेरे प्राण बचाना चाहो तो अपनी पीठ पर चढ़ाकर मुझे वहाँ पहुँचाओ और किसी प्रकार मैं नहीं जा सकता। यह सुन कौवा आनन्द से बोला—तब तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ क्योंकि आपके भी साथ समय बिता सकूँगा। मैं सम्पात आदि आठ प्रकार की उड़ने की चालें जानता हूँ। मेरी पीठ पर चढ़ जाओ, मैं आराम से उस तालाब पर पहुँचा दूँगा। हिरण्यक ने कहा—उन चालों के नाम सुनना चाहता हूँ। वह बोला—

'संपातं विप्रपातं च महापातं निपातनम्।
वक्रं तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम्' ॥ ५९ ॥

सम्पात—समानभाव से उड़ना जिसमें पंख न हिलें। विप्रपात—पंख हिलाकर उड़ना, महापात—ऊँचे उठकर तेजी से उड़ना, निपात—नीचे-नीचे उड़ना, वक्र—तिरछा उड़ना, तिर्यक्—तिरछे होकर (करवट से) उड़ना, ऊर्ध्व—कुछ ऊपर होकर उड़ना, आठवाँ लघुसंज्ञक—तेजी से उड़ना ये आठ प्रकार की चालें हैं॥ ५९ ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैःशनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितः क्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः। तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्तं च—

यह सुनकर हिरण्यक उसी समय उसके ऊपर चढ़ गया। वह भी, उसको लेकर, सम्पात नामक उड्डीन से रवाना हो धीरे-धीरे उस तालाब के पास पहुँच गया। तब दूर से ही पीठ पर चढ़ा हुआ है मूषक जिसके ऐसे लघुपतनक को देखकर देशकालज्ञ मन्थरक 'यह कोई मामूली कौवा नहीं है, ऐसे समझकर जल में घुस गया। लघुपतनक भी किनारे पर स्थित पेड़ के खोखले में हिरण्यक को रखकर शाखा के अग्रभाग पर बैठ जोर से बोला—भो मन्थरक! आओ आओ, मैं तुम्हारा मित्र लघुपतनक नाम का कौवा चिरकाल से तुम्हारे दर्शनों की लालसा से आया हूँ। इसलिए आकर मुझे आलिङ्गन करो। कहा भी है—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ६० ॥

कपूर मिले हुए चन्दन तथा हिमकणों से क्या लाभ? ये सब मित्र के शरीर के १६वें भाग को भी बराबरी नहीं कर सकते॥ ६० ॥

तथा च—

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदां च परित्राणं शोकसंतापभेषजम्॥ ६१ ॥

विपत्तियों से बचाने का साधन, शोक और मानसिक ताप का औषध अमृत तुल्य 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये हैं। अथवा प्रजापति ने बनाये हैं॥६१॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम् । चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः । तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तं च—

यह सुन और अच्छी तरह पहचान कर मन्थरक जल्दी से बाहर निकल आया । उसका शरीर रोमांचित हो गया और वह आँखों में प्रेमाश्रु भरे हुए बोला—आओ आओ, मुझे आलिङ्गन करो । तुम्हारे दर्शन किये बहुत दिन हो गये अतः मैं तुमको पहचान न सका और इसीलिये मैं जल में घुस गया था । कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६२ ॥

जिसका सामर्थ्य, वंश और कार्य न मालूम हो उसके साथ मेल न करे यह वृहस्पति ने कहा है ॥ ६२ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान् । अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कहे जाने पर वृक्ष से उतर कर लघुपतनक ने उसे आलिङ्गन किया । यह ठीक ही कहा है—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६३ ॥

शरीर धोने मात्र के उपयोग में आनेवाली जल-धाराओं से क्या लाभ ? चिरकाल के पश्चात् मित्र का आलिङ्गन अमूल्य होता है ॥ ६३ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः । अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—'भोः, कोऽयं मूषकः । कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः । तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम् ।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भोः हिरण्यको नाम मूषकोऽयम् । मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम् ।' तत्किं बहुना ।

इस प्रकार वे दोनों परस्पर आलिङ्गन कर रोमाञ्चितशरीर हो वृक्ष के नीचे बैठ गये और अपना-अपना चरित्र-वृत्तान्त कहने लगे । हिरण्यक भी

सम्पात—समानभाव से उड़ना जिसमें पंख न हिलें। विप्रपात—पंख हिलाकर उड़ना, महापात—ऊँचे उठकर तेजी से उड़ना, निपात—नीचे-नीचे उड़ना, वक्र—तिरछा उड़ना, तिर्यक्—तिरछे होकर (करवट से) उड़ना, ऊर्ध्व—कुछ ऊपर होकर उड़ना, आठवाँ लघुसंज्ञक—तेजी से उड़ना ये आठ प्रकार की चालें हैं॥ ५९॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैः-शनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितः क्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः। तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्त च—

यह सुनकर हिरण्यक उसी समय उसके ऊपर चढ़ गया। वह भी, उसको लेकर, सम्पात नामक उड्डीन से रवाना हो धीरे-धीरे उस तालाब के पास पहुँच गया। तब दूर से ही पीठ पर चढ़ा हुआ है मूषक जिसके ऐसे लघुपतनक को देखकर देशकालज्ञ मन्थरक 'यह कोई मामूली कौवा नहीं है, ऐसे समझकर जल में घुस गया। लघुपतनक भी किनारे पर स्थित पेड़ के खोखले में हिरण्यक को रखकर शाखा के अग्रभाग पर बैठ जोर से बोला—भो मन्थरक! आओ आओ, मैं तुम्हारा मित्र लघुपतनक नाम का कौवा चिरकाल से तुम्हारे दर्शनों की लालसा से आया हूँ। इसलिए आकर मुझे आलिङ्गन करो। कहा भी है—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ६०॥

कपूर मिले हुए चन्दन तथा हिमकणों से क्या लाभ? ये सब मित्र के शरीर के १६वें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते॥ ६०॥

तथा च—

केनामृतमिद सृष्ट मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदां च परित्राणं शोकसतापभेषजम्॥ ६१॥

विपत्तियों से बचाने का साधन, शोक और मानसिक ताप का औषध अमृत तुल्य 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये हैं। अथवा प्रजापति ने बनाये हैं॥ ६१॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम् । चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः । तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तं च—

यह सुन और अच्छी तरह पहचान कर मन्थरक जल्दी से बाहर निकल आया । उसका शरीर रोमांचित हो गया और वह आँखों में प्रेमाश्रु भरे हुए बोला—आओ आओ, मुझे आलिङ्गन करो । तुम्हारे दर्शन किये बहुत दिन हो गये अतः मैं तुमको पहचान न सका और इसीलिये मैं जल में घुस गया था । कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६२ ॥

जिसका सामर्थ्य, वंश और कार्य न मालूम हो उसके साथ मेल न करे यह वृहस्पति ने कहा है ॥ ६२ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान् । अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कहे जाने पर वृक्ष से उतर कर लघुपतनक ने उसे आलिङ्गन किया । यह ठीक ही कहा है—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६३ ॥

शरीर धोने मात्र के उपयोग में आनेवाली जल-धाराओं से क्या लाभ ? चिरकाल के पश्चात् मित्र का आलिङ्गन अमूल्य होता है ॥ ६३ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः । अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—'भोः, कोऽयं मूषकः । कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः । तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम् ।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भोः हिरण्यको नाम मूषकोऽयम् । मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम् ।' तत्किं बहुना ।

इस प्रकार वे दोनों परस्पर आलिङ्गन कर रोमाञ्चितशरीर हो वृक्ष के नीचे बैठ गये और अपना-अपना चरित्र-वृत्तान्त कहने लगे । हिरण्यक भी

मन्थरक को प्रणाम कर कौवे के पास बैठ गया। उसको देखकर मन्थरक लघुपतनक से बोला—यह चूहा कौन है और किस कारण से तू इसे अपना भक्ष्य होते हुए भी पीठ पर चढ़ाकर लाया ? इसका कोई साधारण कारण नहीं हो सकता। यह सुन लघुपतनक ने कहा—हिरण्यक नाम का यह चूहा मेरा परम मित्र है, (केवल मित्र ही नहीं अपितु) दूसरा प्राण ही है। अधिक कहने से क्या लाभ।

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः।
सिकता-रेणवो यद्वत्संख्यया परिवर्जिताः॥ ६४॥
गुणाः संख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः संप्राप्तोऽयं तवान्तिकम्'॥ ६५॥

जिस प्रकार मेघ की धाराएँ, आकाश में तारे और बालू के कण संख्यातीत हैं उसी प्रकार इस महात्मा के गुण भी संख्यातीत हैं, यह बड़े वैराग्य को प्राप्त हो तुम्हारे पास आया है ॥ ६४–६५ ॥

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम्।' वायस आह—'पृष्टो मया। परमनेनाभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमिति। तत्तत्रैव गतः कथयिष्यामि। ममापि न निवेदितम्। तद्भद्र हिरण्यक, इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम्।' सोऽब्रवीत्—

मन्थरक बोला—इसके वैराग्य का कारण क्या है ? कौवे ने कहा—मैंने पूछा था, परन्तु वह 'इस विषय में बहुत कुछ कहना है, वहीं आकर कहूँगा' यह कहकर चुप हो गया। भद्र हिरण्यक ! अब तुम हम दोनों से अपने वैराग्य के कारण कहो ? वह बोला—

कथा १

'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म। स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति। भिक्षाशेषं च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने संमार्जनोपलेपनमण्डनादिकं समाज्ञापयति। अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने

सिद्धमन्नं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव। तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः। स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति। तत्किं वृथाटनेनान्यत्र। अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे तव प्रसादात्।' तदाकर्ण्याहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः। उत्पत्य च तस्मिन्भिक्षापात्रे समारूढः। तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि। सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि। एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि। परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति। परं यदैव निद्रान्तरितो भवति, तदाहं तत्रारुह्यात्मकृत्यं करोमि। अथ कदाचित्तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्नः कृतः, जर्जरवंशः समानीतः। तेन सुप्तोऽपि मम भयाद्भिक्षापात्रं ताडयति। अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि। एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य कालो व्रजति। अथान्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थः प्राघुणिकः समायातः। तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितः। ततश्च रात्रावेकत्र कुशसंस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुमारब्धौ। अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति। तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति। अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच—'भोस्ताम्रचूड, परिज्ञातः न त्वं सम्यक् सुहृत्। तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि। तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि। उक्तं च —

दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का नगर है। उसके पास ही भगवान् श्री महादेवजी का मन्दिर है। वहाँ ताम्रचूड़ नामक संन्यासी रहता था; वह शहर में भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था, बचे हुए भिक्षान्न को वहीं भिक्षापात्र में रख और उस भिक्षापात्र को खूँटी पर लटकाता और पीछे सोता था। प्रातःकाल, वह अन्न नौकरों को देकर उनसे झाड़ू-बुहारी, लिपवाना और रंगीन रेखाओं से (मन्दिर भूमि को) भूषित कराता था। एक दिन मेरे बन्धुओं ने मुझसे कहा—स्वामिन् ! इस मन्दिर में तैयार अन्न, चूहों के डर से भिक्षापात्र में रक्खा हुआ हमेशा ही खूँटी पर लटका रहता है। हम उसे खा नहीं सकते, आपके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं है, फिर और जगह व्यर्थ

घूमने से क्या लाभ ? आज हम लोग आपकी कृपासे वहाँ जाकर इच्छानुकूल खाँय। यह सुनकर मैं सब सेवकों के साथ उसी समय वहाँ पहुँचा और कूदकर उस भिक्षापात्र पर चढ़ गया। वहाँ तरह-तरह के भोज्य पदार्थ सेवकों को देकर पीछे खुद भी खाता। सबके तृप्त होने पर फिर घर को चला जाता। इस प्रकार रोज मैं उस अन्न को खाता था। संन्यासी भी यथाशक्ति रक्षा करता परन्तु जैसे ही वह सोता कि उस पर चढ़ कर मैं अपना काम कर लेता था। इसके बाद उसने मुझसे अन्न बचाने के लिये बड़ा यत्न किया। एक पुराना बाँस लाया। सोते हुए भी, मेरे डर से, उस बाँस से भिक्षापात्र को पीटा करता। मैं भी बिना अन्न खाये ही चोट के डर से अलग हट जाता था। इस प्रकार उसके सारी रात युद्ध करते ही समय बीतता था। अनन्तर एक दिन उस मठ में ताम्रचूड का मित्र बृहत्स्फिक् नामक संन्यासी तीर्थयात्रा के लिये भ्रमण करता हुआ अतिथि रूप से आया। उसको देखकर (प्रथम उसने उसका) अगवानी से सत्कार किया फिर आदरपूर्वक सेवा की। अनन्तर रात्रि में दोनों एक ही कुशा के बिछौने पर लेटकर धर्मकथा कहने लगे। बृहत्स्फिक् के साथ वार्तालाप करते हुए वह ताम्रचूड, मूषक को डराने के लिए पुराने बाँस से भिक्षापात्र को बजाता रहा और अन्यमनस्क होने के कारण निरर्थक जवाब देता रहा। उसका ध्यान चूहे में ही था अतएव वह स्वयं कुछ भी न बोलता था, इससे वह अतिथि अत्यन्त क्रुद्ध हो बोला—हे ताम्रचूड ! मैंने तुझे पहचान लिया। तू अच्छा मित्र नहीं इसीलिए मेरे साथ प्रेमपूर्वक नहीं बोलता; इस कारण रात में ही तेरे मठ को छोड़ दूसरे मठ में चला जाऊँगा। कहा भी है—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे
का वार्ता ह्यतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६६ ॥

आइये आइये, (कृपाकर) इस आसन पर बैठिए, इतने दिनों के बाद क्यों दिखाई पड़े; क्या समाचार लाये हो ? बहुत दुर्बल दिखाई पड़ते हो, कुशल तो है ? आपके दर्शन से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई—जो मनुष्य इस तरह घर पर आये मित्रों को आदर से प्रसन्न करते हैं, उन्हीं के घर निःशङ्क मन से जाना उचित है ॥ ६६ ॥

गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृङ्गरहिता वृषाः ॥ ६७ ॥

जिस घर में गृहस्वामी मित्र को आता हुआ देखकर इधर-उधर या नीचे देखता है ऐसे घर में जो मनुष्य जाते हैं वे बिना सींग के बैल हैं ॥ ६७ ॥

साभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते ॥ ६८ ॥

जहाँ न तो अभ्युत्थान हो, न मीठे-मीठे वचन हों और न गुण-दोष-चर्चा हो उस घर में नहीं जाना चाहिये ॥ ६८ ॥

तदेकमठप्राप्त्यापि त्वं गर्वितः । त्यक्तः सुहृत्स्नेहः । नैतद्वेत्सि यत्त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तं च—

तू एक ही मठ पाने से अहङ्कारी हो गया है । तूने मित्र का स्नेह भी छोड़ दिया । तू यह नहीं समझता कि तू ने मठप्राप्ति के छल से नरक कमाया है । कहा भी है—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचार ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ६९ ॥

अगर तेरी नरक जाने की इच्छा है तो वर्ष भर पुरोहिताई कर अथवा और कुछ करने से क्या प्रयोजन, सिर्फ तीन दिन मठ की चिन्ता कर ले (वही नरक पहुँचाने के लिए काफी है) ॥ ६९ ॥

तन्मूर्ख, 'शोचितव्यस्त्वं गर्वं गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि ।' अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचूडस्तमुवाच—'भो भगवन्, मैवं वद । न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति । परं तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशेषं च तत्रस्थं भक्षयति । तदभावादेव मठे मार्जनक्रियापि न भवति । तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि । नान्यत्कारणमिति । अपरमेतत्कुतूहलं पश्यास्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटादयोऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन ।' बृहत्स्फिग्गाह—'अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित्प्रदेशे' । ताम्रचूड आह—'भगवन्, न वेद्मि सम्यक् ।' स आह—'नूनं निधानस्योपरि तस्य बिलम् । निधानोष्मणा प्रकूर्दते । उक्तं च—

रे मूर्ख ! तू शोक के, दया के योग्य है, लेकिन् तू अहङ्कार करता है। इसलिए मैं तेरे मठ को छोड़कर जाता हूँ। यह सुनकर, भयभीत हो ताम्रचूड उससे बोला—हे भगवन् ! ऐसा मत कहो, तुम्हारे समान मेरा कोई दूसरा मित्र नहीं लेकिन वार्तालाप में शिथिलता का कारण और है सो सुनो—यह दुष्ट चूहा ऊँचे स्थान पर भी रक्खे हुए भिक्षापात्र पर कूदकर चढ़ जाता है और उसमें रक्खे हुए भिक्षा के (खाने से) बचे हुए अन्न को खा जाता है। भिक्षा-शेष न होने की वजह से ही मन्दिर में झाड़ू आदि भी नहीं लगती। इसलिए चूहे को डराने के लिए इस बाँस से बार-बार भिक्षापात्र को पीटता हूँ, और कोई कारण नहीं है। इस दुष्ट का और भी तमाशा देखो–इसके कूदने ने बिल्ली और बन्दर आदि को भी मात कर दिया। वृहत्स्फिक् ने कहा—मालूम है उसका बिल किस स्थान में है ? ताम्रचूड ने कहा—भगवन् ! ठीक नहीं मालूम। वह बोला—इसमें सन्देह नहीं कि इसका बिल रत्नादि के निधान के ऊपर है। यह निधान की गरमी से ही कूदता है। कहा भी है—

ऊष्मापि वित्तजो वृद्धि तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य संभोगस्त्यागकर्मसमन्वित: ॥ ७० ॥

धन की गरमी भी प्राणियों के तेज को वढ़ा देती है, दानादि से युक्त उसके भोग को तो कहना ही क्या है ? ॥ ७० ॥

तथा च—

'नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रिणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥ ७१ ॥

हे मातः ! यह शाण्डिली बिना ही कारण साफ किये हुए तिलों से बिना साफ किये तिलों को नहीं बदल सकती, इसमें कोई कारण अवश्य होगा ॥ ७१ ॥

ताम्रचूड आह—'कथमेतत् ।' स आह—

ताम्रचूड बोला यह कैसे ? वह बोला—

कथा २

यदाहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कंचिद् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान्। ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि। अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मण-ब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि। तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि,

प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किंचिद्भोजनं दातव्यम्' इति । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः । तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम् । न मिष्टान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम् ।' तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम् ।' उक्तं च—

किसी समय वर्षाकाल में किसी नियम का अनुष्ठान करने के लिये मैंने किसी ब्राह्मण से (उसके घर) रहने की प्रार्थना की । तब उसके कहने से उससे भी सत्कार पा, आराम से देवपूजा करता हुआ रहने लगा । दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं जागा तब ब्राह्मण और ब्राह्मणी की बातचीत में ध्यान देते हुए सुना । ब्राह्मण बोला—हे ब्राह्मणी ! प्रातःकाल अनन्तदानफल देनेवाली दक्षिणायन संक्रान्ति होगी । इसलिये मैं दान लेने के लिये दूसरे ग्राम जाऊँगा । तू सूर्य भगवान् के उद्देश्य से किसी ब्राह्मण को कुछ भोजन करा देना । यह सुनकर ब्राह्मणी कठोर वचनों से उसे धमकाती हुई बोली—दरिद्रता के मारे हुए तेरे घर (किसी को) भोजन कैसे मिल सकता है । ऐसा कहते हुए तुझे शरम नहीं आती । तेरे हाथ में पड़कर मैंने किसी भी बात का सुख नहीं पाया, न तो मिष्टान्न खाने को मिले और न हाथ, पैर, गले आदि के भूषण ही मिले । यह सुन भयभीत हुए ब्राह्मण ने धीरे-धीरे कहा—ब्राह्मणि ! यह कहना ठीक नहीं । कहा भी है—

ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु ।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥ ७२ ॥

ग्रास का आधा भी हिस्सा याचकों को क्यों नहीं देते । इच्छानुकूल ऐश्वर्य कब किसको मिलेगा ॥ ७२ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल ।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७३ ॥

हमने सुना है कि धनी लोग बहुत कुछ देने से जो फल पाते हैं, दरिद्र लोग एक कौड़ी देने से वही फल पाते हैं ॥ ७३ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवती न कृपणो महानपि समृद्धया ।
कूपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥ ७४ ॥

मनुष्य दानी निर्धन की भी सेवा करते हैं परन्तु कृपण समृद्धिशाली की भी नहीं; स्वादुजल से परिपूर्ण कुआँ छोटा होने पर भी लोगों को प्रिय होता है, पर समुद्र बड़ा होने पर भी नहीं ॥ ७४ ॥

तथा च—

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन ।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥ ७५ ॥

जिसमें त्याग—दान की महिमा नहीं ऐसे मिथ्या महाराज अथवा कुवेर शब्द से क्या लाभ ? निधियों की रक्षा करनेवाले कुवेर को विद्वान् लोग महेश्वर नहीं कहते ॥ ७५ ॥

अपि च—

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः ।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७६ ॥

हमेशा मदजल से तथा दान देने से कृशशरीर और निर्धन हुआ गजेन्द्र तथा धनवान् पुरुष प्रशंसा के योग्य होता है । परन्तु मदजलरहित और दान न करने वाला गदहा तथा कृपण पुरुष स्थूलशरीर और प्रचुर धनवान् होने पर भी निन्दनीय होता है ॥ ७६ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः ।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७७ ॥

अच्छी प्रकार बना हुआ और गोल भी घड़ा जल न देने से नीचे जाता है—पानी में डूबता है लेकिन कुबड़ी और कानी भी ककड़ी देने से ऊपर को जाती है ॥ ७७ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकलो लोकस्य ।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७८ ॥

मेघ जल (मामूली चीज) भी देता हुआ सबका प्रिय होता है । हमेशा हाथ फैलानेवाला बन्धु तथा हमेशा किरणें फैलाने वाला सूर्य नहीं देखा जा सकता ॥ ७८ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तं च--

BYRSSMV

यह समझकर दरिद्र पुरुषों को भी थोड़ा-बहुत समय पर योग्य पात्र को देना चाहिये । कहा भी है—

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते ।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदनन्ताय कल्पते ॥ ७९ ॥

उत्तम दान योग्य पात्र, महती श्रद्धा और उचित स्थान तथा समय होने पर विवेकी पुरुषों से जो दिया जाता है वह मोक्ष का साधक होता है अथवा अक्षय फल होता है ॥ ७९ ॥

तथा च—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८० ॥

तृष्णा अधिक न करनी चाहिये और तृष्णा को सर्वथा छोड़ना भी न चाहिए, अत्यन्त तृष्णा में पड़े हुए के मस्तक पर शिखा होती है ॥ ८० ॥

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत्' स आह—
ब्राह्मणी ने कहा—यह कैसे ? वह बोला—

कथा ३

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः । स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः । अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः समासादितः । तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः । तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुर्भूतलेऽपतत् । अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः । एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम । यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्— भोः, सानुकूलो मे विधिः । तेनैतदप्यचिन्तितं भोजनमुपस्थितम् । अथवा साध्विदमुच्यते —

किसी वनभाग में कोई भील रहता था, एक समय वह शिकार के लिये वन को गया । अनन्तर उसने घूमते हुए अञ्जन पर्वत के शिखर के समान आकारवाला कोई सूअर पाया (देखा) । उसे देखकर कान पर्यन्त खींचे हुए तेज बाण से उसे मारा । उसने भी क्रोध से भरे हुए चित्त से चन्द्रकला के समान कान्तिवाले अपने दाढ़ के अग्रभाग से उस शिकारी का पेट चीर दिया । वह

736

मरकर भूमि पर गिर पड़ा। इसके बाद शिकारी को मारकर सूअर भी बाण की चोट की पीड़ा से मर गया। इसी समय मरणासन्न कोई शृगाल भोजन न मिलने से पीडित इधर-उधर घूमता हुआ उस स्थान पर पहुँचा। सूअर तथा भील को देखकर वह प्रसन्न मन से सोचने लगा—मेरा भाग्य अनुकूल है अथवा परमात्मा की मेरे ऊपर बड़ी दया है इसलिए यह अकस्मात् ही भोजन मिल गया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।
शुभाऽशुभ समभ्येति विधिना संनियोजितम् ॥८१॥

परिश्रम न करने पर भी, पूर्वजन्म में किये हुए अच्छे बुरे कर्मों का फल, मनुष्यों को विधि की प्रेरणा से मिल जाता है ॥ ८१ ॥

तथा च—

यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते ॥८२॥

जिस स्थान, जिस समय और जैसी आयु में (मनुष्य ने पूर्व जन्म में) शुभाशुभ कर्म किया है वह उसको उसी तरह (उसी स्थान, उसी समय और उसी आयु में) भोगना पड़ता है ॥ ८२ ॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तं च—

इसलिये मैं इस रीति से खाऊँ कि बहुत दिनों तक मेरी जीवनयात्रा चल सके। इसलिये प्रथम इस धनुष के अग्रभाग में लगी हुई ताँत की बनी हुई रस्सी को खाऊँ। कहा भी है—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥८३॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह स्वयं कमाये हुए धन का रसायन के समान धीरे-धीरे भोग करे, अनादर—बेपरवाही से कभी न भोगे ॥ ८३ ॥

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापघटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इति। स पुनरप्याह—'ब्राह्मणि, न श्रुतं भवत्या

इस प्रकार, उसने मनमें निश्चय कर स्नायुपाश से बँधे हुए धनुष के अग्रभाग को मुख में डाल तांत खाना प्रारम्भ किया। अनन्तर रस्सी (तांत) के टूट जाने पर तालुदेश को छेदकर धनुष का अग्रभाग मस्तक से बाहर निकल गया। वह भी उसकी पीड़ा से उसी क्षण मर गया। इसलिये मैं कहता हूँ—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इत्यादि। उसने फिर कहा—हे ब्राह्मणी, तुमने यह नहीं सुना—

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' ॥८४॥

आयु, काम, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच गर्भ में स्थित ही प्राणी के निश्चित कर दिये जाते हैं ॥ ८४ ॥

अथैवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—'यद्येवं तदस्ति मे गृहे स्तोकस्तिलराशिः। ततस्तिलांल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि' इति। ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामं गतः। सापि तिलानुष्णोदकेन संमर्द्य कुटित्वा सूर्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तिलानां मध्ये कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती—'अहो नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः, यदेते तिला अभोज्याः कृताः। तदहमेतान्समादाय कस्यचित् गृहं गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानानयामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति' इति।

इस प्रकार उस (ब्राह्मण) से समझाये जाने पर ब्राह्मणी ने कहा—अगर यह बात है, दान का इतना पुण्यफल है—तो मेरे घर में थोड़े से तिल हैं। उन तिलों को साफ कर तिलचूर्ण से ब्राह्मण को भोजन कराऊँगी। उसकी यह बात सुन ब्राह्मण ग्राम को चला गया। उसने भी तिलों को गरम जल से मल और कूट कर धूप में सुखाने के लिये रख दिया। इसी समय ब्राह्मणी के गृहकार्य में लग जाने पर किसी कुत्ते ने तिलों पर पेशाब कर दी। यह देख उसने सोचा—प्रतिकूल हुए भाग्य की विडम्बना देखो, ये तिल अभोज्य कर दिये। मैं इनको लेकर किसी के घर जा साफ किये हुए से वगैर साफ किये हुए तिल बदल आऊँगी। इस रीति से हर कोई मुझे बदल देगा।

अथ यस्मिन्गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे सापि तिलानादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च—'गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितांस्तिलान्।' अथ तद्गृहगृहिणीगृहं प्रविष्टा यावदलुञ्चितैर्लुञ्चितान्गृह्णाति, तावदस्याः पुत्रेण

कामन्दकीशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मात, अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किञ्चिद्भविष्यति। तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान्प्रयच्छति'। तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिलीमातः' इति।

जिस घर में भिक्षा के लिये मैं गया था, वह भी तिल लेकर उसी घर में बदलने के लिये आई और बोली—कोई साफ किये हुए से बगैर साफ किये हुए तिल बदल ले। अनन्तर ज्योंहो उस घर की मालकिन बिना साफ किये हुए तिलों से साफ किये हुए तिल बदलने के लिये घर में घुसी त्योंही उसके पुत्र ने कामन्द की नीतिशास्त्र देख कर कहा—हे मातः! इन तिलों को मत लो, इसके धुले तिलों के बदले अपने बेधुले तिल नहीं देने चाहिए। इसमें कोई कारण होगा। इसलिये यह धुले तिल देकर बेधुले तिल लेती है। यह सुन उसने वह तिल छोड़ दिये—नहीं लिये इसलिये मैं कहता हूँ। 'नाकस्माच्छाण्डिलीमातः' इति।

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः।' ताम्रचूड आह—'भगवन्' ज्ञायते। यत एकाकी न समागच्छति। किंत्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्ततः सर्वजनेन सहागच्छति याति च।' अभ्यागत आह—'अस्ति किञ्चित्खनित्रकम्।' स आह—'बाढमस्ति। एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका।' अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः।' मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो, विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्त। नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्यस्माकं ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेव ज्ञायते। उक्तं च—

यह कहकर इसने फिर कहा—क्या उसके जाने-आने का रास्ता मालूम है? ताम्रचूड ने कहा—भगवन्! मालूम है, क्योंकि वह अकेला नहीं आता किन्तु असंख्य परिवार के साथ आता है। मेरे देखते ही इधर-उधर घूमता हुआ सबके साथ आता और चला जाता है। अतिथि ने कहा—खोदने की कोई चीज है? उसने कहा—हाँ है, यह लोहे की कुदाल है। अभ्यागत ने कहा—तो प्रातःकाल तुम मेरे साथ जागना जिससे हम दोनों, मनुष्यों के चरणों द्वारा भूमि के मलिन होने से पूर्व ही अर्थात् जब तक मनुष्यों के पैरों से चूहे के पदचिह्न न मिट जाँय, उससे पूर्व ही उसके पदचिह्न के अनुसार चलेंगे। मैंने उसके वचन सुनकर विचार किया—अहो नाश हो गया, क्योंकि

इसके वचन मतलबभरे सुनाई पड़ते हैं। जिस तरह इसने निधान जान लिया उसी तरह हमारे बिल का भी पता लगा लेगा। यह इसकी बात से ही मालूम पड़ता है। कहा भी है—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य।
हस्ततुलयापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥ ८५ ॥

विद्वान् लोग, पुरुष को एक ही बार देखकर उसकी सारता—गुण, सामर्थ्य आदि को जान लेते हैं। चतुर लोग हाथ से ही तौलकर पल के प्रमाण को जान लेते हैं। (१ पल = ४ कर्ष, १ कर्ष = ३/४ तोला—पौन तोला) ॥ ८५ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरलः कलापी ॥ ८६ ॥

मनुष्यों की इच्छा ही उनके जन्मान्तर के कर्मानुसार बने हुए अच्छे-बुरे भविष्य को बहुत पहिले ही सूचित कर देती है। जैसे कि—कलापरूपी चिह्न उत्पन्न न होने पर भी मोर का बच्चा, शानदार कदमों से जलाशय से लौटता हुआ यह मयूर है ऐसा जान लिया जाता है ॥ ८३ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः। सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्संमुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति। स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात। अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावित-वसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब मैं, भयभीत मन से परिवारसहित दुर्गमार्ग को छोड़ कर दूसरे मार्ग से जाने लगा। परिवारसहित ज्यों ही मैं आगे बढ़ा त्यों ही स्थूलशरीर एक बिलाव सामने आया। वह चूहों के झुण्ड को देख कर एकदम उसमें कूद पड़ा। अनन्तर, मरने से बचे हुए वे चूहे, मुझ को कुमार्गगामी देख कर मेरी निन्दा करते हुए और खून से भूमि को भिगोते हुए उसी बिल में घुस गये। ठीक ही कहा है—

**छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात्।**

व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्यधावन्मृगः
कूपान्तःपतितः करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥८७॥

जाल काटकर, बाँधने के यन्त्रविशेष को पार कर, बलपूर्वक जाल विशेष को तोड़कर, सीमाप्रदेश—किनारों पर अग्निशाखाओं के समूह से दुर्गम वन से दूर पहुँच कर, शिकारियों की भी बाणों की पहुँच से बाहर होकर वेग से दौड़ता हुआ मृग कुएँ में गिर पड़ा। बेचारा दैव के प्रतिकूल होने पर क्या पुरुषार्थ करे ॥ ८७ ॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः। शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः। अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्योपस्थितः। ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः। अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्योपरि सदैवाऽहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः—'भगवन्, इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरणं संपादयति।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च—'किं करोमि। क्व गच्छामि। कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः।' एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः। अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवारः प्रविष्टः।

मैं अकेला और तरफ चला गया। शेष मूर्खता से उसी बिल में घुस गये। इसी बीच में वह दुष्ट संन्यासी रुधिर की बूँदों से चिह्नित पृथ्वी को देखकर उसी बिलमार्ग से आ पहुँचा और कुदाल से खोदने लगा। खोदते-खोदते उसने वह रत्न पा लिया जिसके ऊपर मैं हमेशा रहता था और जिसके प्रभाव से दुर्गम जगहों पर भी पहुँच जाता था। तब अभ्यागत प्रसन्न मन से ताम्रचूड़ से बोला—भगवन्! अब निःशङ्क होकर सोओ। इसीकी गरमी से चूहा तुम्हें रात भर जगाता था। यह कह और रत्न लेकर दोनों मठ की तरफ चले गये। मैं भी जब निधानरहित स्थान पर पहुँचा तब अरमणीय मन को क्षुब्ध करने वाले उस स्थान को देख भी न सकता था। मैं सोचने लगा—क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो? इस प्रकार सोचते-सोचते बड़े क

से वह दिन बीत गया। अनन्तर सूर्यास्त होने पर उद्विग्न, उत्साहहीन हुआ मैं, परिवारसहित उस मठ में घुसा।

अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथासावभ्यागतः प्राह—'सखे, किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि।' स आह—'भगवन्, भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः। तद्भयाज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि।' ततो विहस्याभ्यागतः प्राह—'सखे, मा भैषीः। वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तं च—

हमारे परिजनों के शब्द को सुनकर, ताम्रचूड, फिर पुराने बाँस से भिक्षापात्र को पीटने लगा। तब अभ्यागत ने कहा—मित्र! अब भी निःशङ्क हो क्यों नहीं सोते? वह बोला—भगवन्! वह दुष्ट चूहा फिर परिवारसहित आ पहुँचा, उसके डर से भिक्षापात्र को बाँस से बजाता हूँ। तब हँसकर अभ्यागत ने कहा—मित्र! मत डरो, धन के साथ इसके कूदने का उत्साह भी चला गया, सब मनुष्यों का यही नियम है।

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्' ॥ ८८ ॥

मनुष्य जो हमेशा उत्साही होता, जो मनुष्यों को तिरस्कृत करता और जो कठोर बात कहता है वह, सब धन का बल है ॥ ८८ ॥

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तच्छ्रुत्वाऽसौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—'भोः, पश्य पश्य कौतूहलम्।' आह च—

यह सुनकर मैं क्रुद्ध हो भिक्षापात्र की तरफ सारी शक्ति लगाकर कूदा, परन्तु वहाँ न पहुँचकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देखकर वह मेरा शत्रु हँसकर ताम्रचूड से बोला—देखो तमाशा देखो, फिर कहने लगा—

'अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं सजातेः समतां मतम् ॥ ८९ ॥

सब मनुष्य धन से बलवान् होते हैं, जो धनवान् है वही पण्डित है, देखो—धनरहित यह चूहा अपनी जातिवालों के समान हो गया ॥ ८९ ॥

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः। यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिये तुम निःशङ्क सोओ। इसके कूदने का कारण हमदोनों के हाथ में आ गया है। ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः' ॥ ९० ॥

जिस प्रकार टूटे दाँतवाला सांप और मदरहित हाथी इस संसार में केवल नामधारी होते हैं, उसी प्रकार धन से रहित पुरुष भी नामधारी होता है ॥९०॥

तच्छ्रुत्वाहं मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्तं च—

यह सुनकर में सोचने लगा—मुझमें अंगुल भर भी कूदने की शक्ति नहीं रही, इसलिए धनहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी है—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९१ ॥

धनहीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुष के सब कार्य, गरमी में छोटी-छोटी नदियों के समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिलाः।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥ ९२ ॥

जैसे काकयव—एक प्रकार का साररहित अन्न और जङ्गली तिल नाममात्र के हो होते हैं। उनसे कोई सिद्धि नहीं होती। उसी प्रकार धनहीन पुरुष भी होते हैं ॥ ९२ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥ ९३ ॥

दरिद्र व्यक्ति के सभी गुण धन के अभाव से प्रकाशित नहीं होते। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सकल पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सकल गुणों की प्रकाशिका लक्ष्मी ही है ॥ ९३ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनोऽसुखे स्थितः ॥ ९४ ॥

जो व्यक्ति प्रकृति से ही निर्धन है उसे उतना कष्ट नहीं होता जितना कि पहले धन प्राप्त कर बाद में उससे रहित हो दुःख में रहने वाले व्यक्ति को होता है ॥ ९४ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥ ९५ ॥

सूखे, कीड़ों से खाये, चारों ओर से जले तथा ऊसर भूमि में स्थित वृक्ष का जन्म याचक के जन्म की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि हि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९६ ॥

अकीर्तिकारिणी दरिद्रता से सदा-सर्वदा सावधान रहना चाहिये । क्योंकि उपकार करने के लिये भी आये हुए निर्धन को मनुष्य छोड़ देता है ॥ ९६ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ ९७ ॥

विधवा स्त्री के स्तन के समान निर्धन मनुष्य की अभिलाषाएँ भी हृदय में उठ-उठकर वहीं नष्ट हो जाती हैं ॥ ९७ ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते' ॥ ९८ ॥

Here Poverty

इस संसार में दुर्गति (दरिद्रता) रूप अन्धकार से ढका हुआ मनुष्य दिन के प्रकाश में आगे रहता हुआ भी प्रयत्न करने पर भी किसी से नहीं देखा जाता ॥

एवं विलप्याहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—'अहो, असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलग्नानां बिडालादिविपत्तयः तत्किमनेनाराधितेन ।' उक्तं च—

इस प्रकार विलाप कर मैं उत्साहरहित हो उस धन को कन्धे के नीचे (सिरहाने में) रखा देख प्रातःकाल अपने दुर्ग (बिल) में चला गया । तब मेरे सेवक प्रातःकाल जाते हुए आपस में कहने लगे—यह हमारा पेट भरने में असमर्थ है, इसके पीछे फिरते हुए (साथ रहने में) बिल्ली आदि की विपत्तियाँ प्राप्त होंगी, अतः इसकी सेवा करने से क्या लाभ । कहा भी है—

'यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥ ९९ ॥

जिससे कोई लाभ न हो और केवल विपत्तियाँ ही प्राप्त हों ऐसे मालिक को विशेषकर अनुचर दूर से ही छोड़ देवें ॥ ९९ ॥

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम्। यावन्न कश्चिन्मम संमुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्—'धिगियं दरिद्रता।' अथवा साध्विदमुच्यते—

उनके यह वचन सुनकर मैं अपने दुर्ग में घुस गया। जब मेरे पास कोई न आया तब मैंने सोचा—इस दरिद्रता को धिक्कार है। अथवा ठीक ही कहा है—

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथुनमप्रजम्।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः'॥ १००॥

दरिद्र मनुष्य, सन्तान पैदा करने में असमर्थ मैथुन, वेदज्ञ ब्राह्मण रहित श्राद्ध और दक्षिणारहित यज्ञ निष्फल है॥ १००॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः। ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति। अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तितम्—'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशं गतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति। उक्तं च—

जब कि मैं इस तरह सोच रहा था (उसी समय) मेरे सेवक, मेरे शत्रुओं के अनुचर हो गये। वे लोग मुझे अकेला देखकर मेरी हँसी करने लगे। तब मैंने अकेले ही अपनी हालत पर विचार करते हुए सोचा कि उस दुष्ट तपस्वी के स्थान पर जा, उसके सोते हुए ही तकिये के नीचे रखी हुई धन की पिटारी को धीरे-धीरे काटकर वह धन अपने बिल में ले आऊँ। जिससे धन के प्रभाव से पहिले की तरह ही मेरा आधिपत्य हो जाय। कहा भी है—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव॥ १०१॥

निर्धन मनुष्य कुलीन विधवाओं के समान सैंकड़ों इच्छाओं के द्वारा केवल अपने मन को क्लेश ही दिया करते हैं। वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके मन को आनन्दित नहीं कर सकते॥ १०१॥

दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम्।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव॥ १०२॥

दरिद्रता प्राणियों के लिये महान् दुःख और अत्यन्त अपमान करनेवाली होती है। जिससे अपने कुटुम्बी भी जिन्दों को ही मुर्दा ही समझते हैं॥ १०२॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम्।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥ १०३ ॥

दरिद्रता से मलिन हुआ पुरुष, हमेशा दीनता का पात्र होता है तथा तिरस्कार का मुख्य स्थान और विपत्तियों का घर होता है ॥ १०३ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन संबन्धं गोपयन्ति च।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०४ ॥

जिसके पास धन न हो उससे कुटुम्बी लोग लज्जित होते हैं और उसके साथ अपना सम्बन्ध छिपाते हैं। (केवल इतना ही नहीं किन्तु) मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम्।
पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥ १०५ ॥

यह दरिद्रता प्राणियों के लिये मूर्तिमती लघुता, विपत्तियों का घर और मृत्यु का नामान्तर है—यह दूसरी मृत्यु ही है ॥ १०५ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जिनीरेणुवज्जनैः।
दीपखट्वोत्थछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥ १०६ ॥

बकरी के पैर से उठी हुई धूलि के समान झाड़ू से उड़ाई हुई गर्द की तरह और दीपक द्वारा पड़ी हुई खाट की परछाईं की तरह निर्धन मनुष्य लोगों से छोड़ दिया जाता है ॥ १०६ ॥

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १०७ ॥

शौच के बाद अंग साफ करने से बची हुई मिट्टी का भी कहीं कोई काम निकल सकता है, परन्तु निर्धन मनुष्य से कहीं कुछ काम नहीं हो सकता—वह उससे भी गया बीता है ॥ १०७ ॥

अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम्।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥ १०८ ॥

निर्धन मनुष्य (कुछ) देने की इच्छा रखता हुआ भी जब धनवानों के घर जाता है तब लोग उसे याचक ही समझते हैं, इसलिये प्राणियों की इस दरिद्रता को धिक्कार है ॥ १०८ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम्।

उक्तं च—

यदि उस धन को लाने के उद्योग में मेरी मृत्यु भी हो जाय, तो अच्छा है। कहा भी है—

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥ १०९ ॥

जो मनुष्य अपने धन का अपहरण देखकर प्राणों की रक्षा करता है। उसके दिये हुए तर्पण जल को पितर लोग भी ग्रहण नहीं करते ॥ १०९ ॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः' ॥ ११० ॥

जो मनुष्य गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये तथा स्त्री और धन के हरण होने पर (उनको वापिस लाने में) युद्ध में प्राण छोड़ता है उसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं—वह स्वर्ग को जाता है ॥ ११० ॥

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत्, तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चिदायुःशेषतया निर्गतोऽहम्, न मृतश्च। उक्तं च—

ऐसा निश्चय कर रात में वहाँ जाकर जब तक मैंने (तपस्वी के) सोते हुए पिठारी में छेद किया उसी समय वह दुष्ट तपस्वी जाग गया। तब (उसने) फटे बाँस से मेरे सिर पर मारा। (मैं) किसी प्रकार आयुशेष होने के कारण वहाँ से निकल आया और मरा नहीं। कहा भी है—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥१११॥

मनुष्य पाने योग्य (भाग्य में लिखी हुई) वस्तु को पाता ही है, दैव भी उसे रोक नहीं सकता; इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है, क्योंकि जो वस्तु हमारी है वह दूसरों की नहीं हो सकती ॥ १११ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत्।' हिरण्यक आह—

कौवे और कछुए ने पूछा—'यह कैसे ?' हिरण्यक बोला—

कथा ४

'अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणं पुस्तकं गृहीतम्। तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

किसी नगर में सागरदत्त नामका बनिया रहता था। उसके पुत्र ने सौ रुपये में बिकती हुई एक पुस्तक खरीदी। उसमें लिखा था—

(प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥)

'मनुष्य पाने योग्य वस्तु को पाता है' इत्यादि। (देखें श्लोक १११)॥

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः—'पुत्र, कियता मूल्येनैतत् पुस्तकं गृहीतम्।' सोऽब्रवीत्—'रूपकशतेन'। तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—धिङ्मूर्ख, त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि, एतया बुद्धया कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि। तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्। एवं निर्भर्त्स्य गृहान्निःसारितः। स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थितः। अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः—'कुतो भवानागतः। किंनामधेयो वा' इति। असावब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तरं दत्तम्। एवं च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थं इति तस्य प्रसिद्धं नाम जातम्। अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणास्ति। तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरे गतः। तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि, यया किलानेन सह समागमो भवति तथाद्य त्वया यतितव्यम्'। एवं च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—'यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता। भणितं च त्वां प्रति तया, यन्मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता। तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्।' इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यद्यवश्यं मया तत्रागन्तव्यं तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम्।' अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्।' सोऽब्रवीत्—'यद्येवं निश्चयो भवत्यास्तदहमेवं करिष्यामि।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता।

उसे देखकर सागरदत्त ने पुत्र से पूछा—पुत्र! कितने मूल्यमें यह पुस्तक खरीदी है? उसने कहा—सौ रुपये में। यह सुनकर सागरदत्त बोला—मूर्ख! तुझे धिक्कार है। जब तू एक श्लोकवाली पुस्तक सौ रुपये में खरीदता है

तब ऐसी समझ से (धन को इतना तुच्छ समझकर) कैसे धन कमायेगा; इसलिये आज से तू मेरे घर में न घुसना। इस प्रकार धमकाकर घर से उसे निकाल दिया। वह भी इस अपमान से (दुःखी हो) दूर देश में जाकर किसी नगर में रहने लगा। कुछ दिनों बाद वहाँ के किसी निवासी ने पूछा—आप कहाँ से आये हैं और आपका क्या नाम है ? इसने कहा, 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' किसी दूसरे के पूछने पर भी इसने यही जवाब दिया। इस तरह उस शहर में उसका 'प्राप्तव्यमर्थं' नाम प्रसिद्ध हो गया। (किसी समय उत्सव के दिन) अपूर्वसुन्दरी और युवती चन्द्रवती नामक राजकन्या सखी के साथ नगर देख रही थी। उसी समय, मन को लुभाने वाला अत्यन्त सुन्दर कोई राजकुमार किसी तरह (अकस्मात्) उसकी दृष्टि में पड़ा। उसके देखते ही काम से पीड़ित हो राजकन्या ने सखी से कहा—सखि ! ऐसा यत्न करो जिससे आज इसके साथ समागम हो जाय। यह सुनकर सखी जल्दी से उसके पास जाकर कहने लगी—मुझे चन्द्रवतीने तुम्हारे पास भेजा है और उसने तुमसे यह कहा है कि तुम्हारे दर्शन से ही काम ने मेरी अन्तिम दशा कर दी है, इसलिये अगर तुम शीघ्र ही मेरे पास न आओगे तो मृत्यु ही मेरी रक्षक होगी—मैं मर जाऊँगी। यह सुन, उसने कहा—अगर मुझे निश्चय ही वहाँ जाना है तो बताओ किस उपाय से वहाँ प्रविष्ट हो सकूँगा। तब सखी ने कहा—रात में महल से लटकती हुई मजबूत रस्सी पकड़ कर चढ़ आना। उसने कहा—अगर आपका यह निश्चय है तो मैं ऐसा ही करूँगा। इस प्रकार तै करके सखी चन्द्रवती के पास चली गई।

अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत्—'अहो, महदकृत्यमेतत्। उक्तं च—

रात्रि आने पर राजपुत्र ने मन में विचार किया कि यह बड़ा अनुचित काम है। कहा भी है—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम्।
यो गच्छति पुमांल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम्॥ ११२॥

जो मनुष्य गुरुपुत्री, मित्र, स्वामी और भृत्य की स्त्री से समागम करता है संसार में उसे ब्रह्मघाती—ब्रह्महत्या करनेवाला, कहते हैं अर्थात् ब्रह्महत्या में जो पाप होता है वही पाप उसे होता है॥ ११२॥

अपरं च—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत्' ॥ ११३ ॥

और भी—जिस काम से दुष्कीर्ति प्राप्त हो, जिससे नीच योनि मिले और जिस काम से स्वर्ग से गिरना पड़े वह काम कभी न करे ॥ ११३ ॥

इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम। अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याधिरूढः। तया च राजपुत्र्या स एवायमित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्—'युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयम्। त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति इति। तत्कस्मान्मया सह न ब्रवीषि।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इत्युक्ते तयान्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः। स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः। अथ तत्र कयाचित्स्वैरिण्या दत्तसंकेतको यावद्दण्डपाशकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च—'को भवान्'। सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा दण्डपाशकेनाभिहितम्—'यच्छून्यं देवगृहमिदम्। तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्तः। अथ तस्य रक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषस्यानुरक्ता संकेतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्तासीत्। अथ सा तमायातं दृष्ट्वा स एवायमस्मद्वल्लभ इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता विकसितवदनकमला तमाह—'किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान्न ब्रवीति।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्—'यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति। एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ। स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति। प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः। अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुतास्ति, तावन्मदमत्तो हस्त्या-

रोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयंस्तमेवोद्देशं प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः। अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः, अहं परित्राता' इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्। ततः कथमपि दैवयोगादपाये हस्तिनि ससुहृद्बान्धवेनातिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्तिनागत्य तावत्तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वाभिहितम्—'भोः श्वशुर, विरुद्धमिदं त्वयानुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति। सोऽब्रवीत्—'भोः, अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहायातो न जाने किमिदं वृत्तम्।' इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः—'वत्से, न त्वया सुन्दरं कृतम्। तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः।' साऽब्रवीत्—'यदहमनेन प्राणसंशयाद्रक्षिता, तदेनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणिं ग्रहीष्यति' इति। अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा। अथ प्रातस्तत्र संजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुतापि तत्रैवागता। अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजापि तत्रैवाजगाम। प्राप्तव्यमर्थं प्राह—'भोः, विश्रब्धं कथय। कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः।' अथ सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति। राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः' इति। ततो दण्डपाशकसुताब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे' इति। तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताब्रवीत्—'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' इति। ततः अभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालंकारपरिवारयुतां दत्त्वा त्वं मे पुत्रोऽसीति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान्। दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना संभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता।

इस प्रकार अच्छी तरह सोचकर उसके पास नहीं गया। रात्रि में घूमते हुए 'प्राप्तव्यमर्थं' ने राजमहल में लटकती हुई रस्सी देखी, उसे देखकर उसका हृदय कुतूहल (रस्सी लटकने का कारण जानने की इच्छा) से भर गया और वह उसे पकड़ ऊपर चढ़ गया। वह राजपुत्री यह समझकर कि यह वही है बड़ी प्रसन्न हुई। वह स्नान, भोजन, पान और वस्त्रादि से उसका सत्कार कर उसके

साथ शय्या पर स्थित होकर उसके स्पर्श से पुलकित होती हुई बोली—आपके दर्शनमात्र से ही अनुरक्त होकर मैंने यह शरीर आपको अर्पण कर दिया है, आपके अतिरिक्त कोई पुरुष मन में भी मेरा पति न होगा, फिर आप मुझसे क्यों नहीं बोलते। उसने कहा—प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है। ऐसा कहने पर 'यह कोई और है' यह समझ कर उसने उसे उतार कर छोड़ दिया। वह भी टूटे हुए मन्दिर में (अथवा 'खण्डोबा'[1] नामक देवताविशेष के मन्दिर में) जाकर सो रहा। इसके बाद शहर का कोतवाल किसी स्वेच्छा-चारिणी का संकेत पाकर वहाँ आया। उसने पहिले से सोये हुए इसे (प्राप्तव्यमर्थ को) देखा और अपना गुप्तभेद छिपाने के लिये कहा—आप कौन हैं? उसने कहा, 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'। यह सुन दण्डपाशक ने कहा—यह देवालय सूना है इसलिये मेरे स्थान पर जाकर सो रहो। वह स्वीकार कर (चला गया परन्तु) धोखे से दूसरी चारपाई पर सो गया। (इधर) उस कोतवाल की सुन्दरी और युवती लड़की विनयवती किसी पुरुष में अनुरक्त हो (उसे) संकेत देकर उस चारपाई पर सोई हुई थी, उसने अपना प्रिय समझ लिया, (इसलिए) उठकर भोजनाच्छादनादि क्रियायें कराई और गान्धर्व विवाह के द्वारा उसके साथ विवाह कर लिया। तब उसके साथ शय्या पर स्थित होकर कमल के समान सुन्दर मुख से मुस्कराती हुई बोली—'अब भी आप, मेरे साथ खुले दिल से क्यों नहीं बोलते।' उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' यह सुन वह सोचने लगी—जो कार्य बिना सोचे-समझे किया जाता है उसका ऐसा ही परिणाम होता है। यह सोचकर उसने दुःखी हो उसे निकाल दिया। वह जिस समय सड़क पर जा रहा था उसी समय दूसरे देश (शहर) का रहनेवाला वरकीर्ति नामक वर, बड़े गाजे-बाजे के साथ आ रहा था। प्राप्तव्यमर्थ भी उसके साथियों के साथ चल दिया। (इधर जब) विवाह लग्न से कुछ ही पूर्व सड़क के पास वाले एक सेठ के घर के दरवाजे पर मण्डप के नीचे बनी हुई वेदी पर हाथ में कलावा (मङ्गल कार्यों में काम आने वाला लाल डोरा) बाँधे और विवाह के वस्त्रादि धारण

---

१. दक्षिण में पूना से २५ मील पर जेजुरी नामक पर्वत पर 'खंडोबा' नामक देवता की चैत्र पूर्णिमा में पूजा होती है। इस देवता की पूजा मुख्यतः गड़रिये लोग करते हैं।

किये हुए बनिये की लड़की बैठी हुई थी उसी समय एक मतवाला हाथी पीलवान को मार कर भागते हुए मनुष्यों के शोर से लोगों को भयभीत करता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसे देखकर वर और उसके साथी इधर-उधर भाग गये। इसी मौके पर प्राप्तव्यमर्थ ने डर के कारण चञ्चल नेत्रवाली उस लड़की को अकेली देखकर बहादुरी के साथ 'मत डरो, मैं तुम्हारा रक्षक हूँ' (कहकर) धीरज दिया और उसे दाहिने हाथ में पकड़कर (लड़की का दाहिना हाथ पकड़कर) बड़े साहसपूर्वक कठोर शब्दों से हाथी को धमकाया। तब किसी प्रकार भाग्यवश हाथी के चले जाने और विवाह मुहूर्त के भी निकल जाने पर वरकीर्ति-बन्धु-बान्धवों सहित वहाँ आया। उसने लड़की को दूसरे के हाथ में (कब्जे में) देखकर कहा—हे श्वशुर! आपने यह काम अनुचित किया कि मुझे लड़की देकर (देने का वायदा करके) दूसरे को दे दी। उसने कहा—मैं भी हाथी के डर से भागकर आप लोगों के साथ ही आया हूँ, नहीं, मालूम यह क्या बात हो गई। यह कहकर लड़की से पूछने लगा—पुत्रि! तुमने यह ठीक नहीं किया, कहो, यह क्या बात है? वह बोली—चूँकि इसने खतरे से मेरी जान बचाई है इसलिए मेरे जीवित रहते हुए इसे छोड़कर कोई दूसरा मेरा हाथ नहीं पकड़ सकता (मेरे साथ विवाह नहीं कर सकता)। इसी बातचीत में रात व्यतीत हो गई। अनन्तर प्रातःकाल वहाँ बहुत से मनुष्यों के इकट्ठा हो जाने पर इस समाचार को सुन राजकुमारी वहीं आयी और कर्णपरम्परा (एक दूसरे से यह घटना) सुन कोतवाल की लड़की भी वहाँ आ गई। राजा भी यह सुनकर कि 'वहाँ बहुत मनुष्य एकत्रित हैं' उसी स्थल पर आ गया। (उसने) प्राप्तव्यमर्थ से पूछा—भद्र! निडर होकर कहो, यह क्या वृत्तान्त है। उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'। राजकन्या ने सोचकर कहा—'विधाता भी उसे रोक नहीं सकता।' तब कोतवाल की पुत्री बोली—'इसलिये न तो मैं शोक ही करती हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है।' यह समस्त लोकसमाचार सुन कर वैश्यपुत्री बोली—'जो हमारा है वह दूसरों का नहीं हो सकता।' तब अभय दान देकर राजा ने पृथक्-पृथक् समाचार मालूम किये और सब बात ठीक-ठीक जानकर उस प्राप्तव्यमर्थ को सब तरह के भूषणों से सुशोभित कर दास-दासियों के साथ अपनी पुत्री को आदरपूर्वक दे दी। साथ ही एक सहस्र ग्राम भी दिये। तथा—'तुम मेरे पुत्र हो' ऐसा लोक में प्रसिद्ध कर उसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया। दण्डपाशक ने भी

शक्त्यानुसार वस्त्र आदि से सम्मानित कर अपनी पुत्री प्राप्तव्यमर्थं को दे दी।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ। अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति।

अनन्तर प्राप्तव्यमर्थ ने सब कुटुम्बियों के साथ अपने माता-पिता को आदरपूर्वक उसी नगर में बुला लिया। वह प्राप्तव्यमर्थ, अपने परिवार के साथ तरह-तरह के सुख-भोग भोगता हुआ आनन्द से रहने लगा। इसलिये मैं कहता हूँ 'प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है।' इत्यादि।

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्। मन्थरक आह—'भद्र, भवति सुहृदयमसन्दिग्धं यः क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तं च यतः—

यह सब सुख-दुःख भोगकर मैं अत्यन्त दुखी हुआ; अब यह मित्र मुझे तुम्हारे पास लाया है; मेरा वैराग्य का यही कारण है। मन्थरक बोला—भद्र ! निस्सन्देह यह मित्र है जो भूखा होने पर भी अपने भोजनस्वरूप तुझ शत्रु को भी अपनी पीठपर चढ़ाकर लाता है, रास्ते में भी खाता नहीं। कहा भी है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम्॥ ११४॥

जिसका मन ऐश्वर्य पाकर विकार को प्राप्त नहीं होता अर्थात् बदलता नहीं और जो सब अवस्थाओं में सच्चा मित्र रहे उस उत्तम पुरुष को मित्र बनाना चाहिये॥ ११४॥

विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः॥ ११५॥

इन चिह्नों से विद्वान् के लिए होमाग्नि की तरह मित्रों की परीक्षा अवश्य कही गयी है॥ ११५॥

तथा च—

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत्॥ ११६॥

विपत्ति का समय आने पर जो मित्र रहे वही मित्र कहलाने योग्य है (क्योंकि) बढ़ती के समय तो दुष्ट भी मित्र बन जाते हैं ॥ ११६ ॥

तन्ममाप्यद्यास्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिये आज मुझे भी इसके विषय में विश्वास हो गया है क्योंकि मांसाहारी कौवों के साथ जल में रहनेवालों की यह मित्रता नीतिविरुद्ध है। अथवा यह ठीक ही कहा है—

मित्रं कोऽपि न कस्यापिनितान्तं न च वैरकृत् ।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षितः ॥ ११७ ॥

न तो कोई सर्वथा किसी का मित्र ही है और न सर्वथा शत्रु ही होता है क्योंकि कार्यवश मित्र से मारे जाते हुए और शत्रु से रक्षा किये जाते हुए पुरुष देखे जाते हैं ॥ ११७ ॥

तत्स्वागतं भवतः । स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे । यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते संजातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्तव्यः । उक्तं च—

आपका स्वागत है। इस तालाब के किनारे पर अपने घर के समान रहिये। और जो आपके धन का नाश तथा विदेश में वास हो गया है इस विषय में दुःख न करना चाहिये । कहा भी है—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ ११८ ॥

मेघ की छाया, दुष्टों की प्रीति, पका हुआ अन्न (भात आदि), स्त्रियाँ, जवानी और धन ये सब वस्तु थोड़े काल तक ही भोगने योग्य होती हैं अर्थात् ये देर तक नहीं ठहरतीं ॥ ११८ ॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति । उक्तं च—

इसीलिये विवेकी जितेन्द्रिय पुरुष धन की इच्छा नहीं करते । कहा भी है—

सुसंचितैर्जीवनवत्सुरक्षितै-
र्निजेऽपि देहे न वियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै-
रेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥ ११९ ॥

अच्छी प्रकार (कष्ट सहकर भी) सङ्ग्रह किये हुए, प्राणों के समान रक्षा किये हुए, अपने शरीर के लिये भी खर्च नहीं किये गये ऐसे ये निष्ठुर धन

यम के समीप भी जाते हुए (मरते हुए) पुरुष के पीछे पाँच पैर भी नहीं जाते ॥ ११९ ॥

अन्यच्च—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२० ॥

और भी—जैसे मांस को पानी में मछलियाँ, पृथिवी पर हिंसक जन्तु और आकाश में पक्षी खाते हैं उसी प्रकार धनवान् सर्वत्र खाया जाता है ॥ १२० ॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२१ ॥

राजा निरपराध भी धनी पुरुष को अपराधी सिद्ध करता है (दोष लगाकर धन वसूल करता है)। निर्धन पुरुष अपराध करके भी सब जगह निर्दोष ही रहता है ॥ १२१ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२२ ॥

धन के कमाने और उसकी रक्षा करने में कष्ट होता है। उसके नाश होने तथा खर्च करने में भी दुःख होता है, इन केवल दुःख देने वाले धनों को धिक्कार है ॥ १२२ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२३ ॥

मूर्ख मनुष्य, धन कमाने में जो दुःख सहता है उसका सौवाँ भाग भी यदि सहन करे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥ १२३ ॥

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यम् । यतः—

और विदेशवास से उत्पन्न खेद को भी तुम्हें मन में नहीं लाना चाहिए; क्योंकि—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १२४ ॥

स्थिरचित्त महामना मनुष्य के लिये क्या स्वदेश और क्या विदेश ! सब ही उसके लिए समान है। वह जिस देश में रहता है उसी को भुजबल से

अपने अधीन कर लेता है। (जैसे कि) दाँत, नाखून और पूँछरूपी अस्त्रधारी सिंह जिस वन में प्रविष्ट होता है उसी में बड़े-बड़े हाथियों को मारकर उनके खून से अपनी प्यास बुझाता है ॥ १२४ ॥

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान्भवति स कथंचिदपि न सीदति। उक्तं च—

परदेश में गया हुआ निर्धन भी यदि बुद्धिमान् हो तो वह दुखी नहीं होता। कहा भी है—

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्। १२५ ॥

समर्थ के लिए अतिभार क्या है? व्यापारियों के लिए दूर कौन सा स्थान है? विद्वानों के लिए विदेश क्या है? प्रियवादियों के लिये गैर कौन है? ॥१२५॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्यः। अथवा—

आप महाबुद्धिमान् हैं, साधारण पुरुष के समान नहीं हैं। अथवा—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृद च लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥ १२६ ॥

उद्योगी, कार्य में देर न लगानेवाले, (कार्यों के) सिद्धान्त तथा निर्माण पद्धति को जाननेवाले, मद्यपानादि बुरे व्यसनों से पृथक्, बहादुर उपकार माननेवाले और स्थिर मित्रता वाले पुरुष को लक्ष्मी स्वयं अपने निवास के लिये तलाश कर लेती है ॥ १२६ ॥

अपरं प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति। तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत्। मुहूर्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते। स्वयमागतमपि विधिनापह्रियते।

और प्राप्त हुआ भी धन कर्मानुसार नष्ट हो जाता है। इतने दिनों तक (यह धन) तुम्हारा रहा। क्षण भर भी उस वस्तु को नहीं भोग सकते जो अपनी नहीं है। स्वयं प्राप्त भी (ऐसी वस्तु को) विधाता (भाग्य) हर लेता है।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १२७ ॥

मनुष्य बड़े जङ्गल में पहुँचकर घबड़ाये हुए (मूढ़) सोमलिक के समान धन कमा कर भी (भाग्य के प्रतिकूल होने पर) उसको भोग नहीं सकता ॥१२७॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत्'। स आह—

हिरण्यक ने कहा—यह कैसे ? यह बोला—

कथा ५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म। स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदैव वस्त्राण्युत्पादयति। परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं सम्पद्यते। अथान्ये यत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः। तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये, पश्यैतान्स्थूलपट्टकारकान्धनकनकसमृद्धान्। तदधारणकं ममैतत्स्थानम्। तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि।' सा प्राह—'भोः प्रियतम, मिथ्या प्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति स्वस्थाने न भवतीति। उक्तं च—

किसी स्थान में सोमलिक नाम का जुलाहा रहता था। वह तरह-तरह की बुनावट से मनोहर, राजाओं के (पहिनने) योग्य वस्त्र बुना करता था। यद्यपि वह अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने में चतुर था तथापि भोजन-वस्त्रादि से अधिक थोड़ा भी धन उसे नहीं मिलता था। और वहाँ मामूली जुलाहे मोटा (साधारण) कपड़ा बनाना जानने वाले बड़े सम्पन्न थे। उनको देखकर वह पत्नी से बोला—प्रिये ! इन मामूली कपड़ा बनाने वालों को देखो, ये कैसे मालदार (धन और सोने से सम्पन्न हैं)। मेरे लिये यह स्थान उपयुक्त नहीं, मुझे इस स्थान पर लाभ न होगा, इसलिये मैं कमाने के लिये और जगह जाऊँगा। वह बोली—प्रियतम ! यह बात मिथ्या है कि दूसरे स्थान पर जानेवालों को धन मिलता है। कहा भी है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति ॥ १२८ ॥

पक्षी जो आकाश में उड़ते और पृथ्वी पर उतरते हैं यह सब उनके पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों के फल के कारण है, बगैर दी हुई कोई वस्तु नहीं मिलती ॥ १२८ ॥

तथा च—

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १२९ ॥

और भी—जो होनेवाला नहीं है, वह नहीं होता। जो होनेवाला है वह बिना किसी यत्न के ही पूरा हो जाता है। जो प्राप्त नहीं होने वाला है वह हाथ में आकर भी नष्ट हो जाता है ॥ १२९ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुराकृत कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३० ॥

जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों में अपनी माता को पा लेता है (पहिचान कर उसके पास चला जाता है) इसी तरह पूर्व में किया हुआ कर्म करने वाले के पीछे-पीछे जाता है ॥ १३० ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना ॥ १३१ ॥

मनुष्यों का पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म, सोते हुए मनुष्य के साथ सोता और चलते हुए के पीछे चलता है; (हमेशा) आत्मा के साथ रहता है ॥१३१॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसंबद्धौ परस्परम्।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३२ ॥

जिस प्रकार छाया और धूप आपस में सदा सम्बद्ध रहते हैं इसी तरह कर्म और कर्ता एक दूसरे से बँधे रहते हैं ॥ १३२ ॥

तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव।' कौलिक आह—'प्रिये, न सम्यगभिहितं भवत्या। व्यवसायं विना कर्म न फलति। उक्तं च—

इसीलिये यहीं व्यापार करो। जुलाहा बोला—प्रिये, तुमने ठीक नहीं कहा क्योंकि व्यवसाय के बिना कर्म फलीभूत नहीं होता, कहा भी गया है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका संप्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥ १३३ ॥

जिस तरह एक हाथ से ताली नहीं बजती, इसी तरह उद्योग के बिना कर्म (भाग्य) फल नहीं दे सकता ॥ १३३ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथंचन ॥ १३४ ॥

देखो—भोजन के समय पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुआ भी भोजन, हाथ की चेष्टा के बिना मुख में प्रविष्ट नहीं हो सकता ॥ १३४ ॥

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥ १३५॥

जैसे उपयोगी पुरुष-सिंह को लक्ष्मी प्राप्त होती है। कायर पुरुष दैव-दैव पुकारते हैं। दैव को छोड़कर शक्तिभर पुरुषार्थ करके यत्न करने पर भी यदि सिद्धि की प्राप्ति न हो तो समझना चाहिए कि यत्न करने में त्रुटि रह गई है पुनः-पुनः पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिए॥ १३५॥

तथा च—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ १३६॥

कार्य उद्योग से ही सफल होते हैं केवल मनोरथों से नहीं, सोते हुए सिंह के मुख में पशु नहीं घुसते॥ १३६॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति॥ १३७॥

हे राजन्! यत्न के बिना इच्छायें सिद्ध नहीं होतीं, आलसी पुरुष ही कहा करते हैं कि 'जो होना होगा सो हो जायगा'॥ १३७॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः॥ १३८॥

अपनी शक्त्यनुसार काम करते हुए पुरुष को यदि (काम करना रूप) पुरुषार्थ फल नहीं देता तो इसमें पुरुष निन्दनीय नहीं है क्योंकि उसका यत्न भाग्य से नष्ट कर दिया गया है॥ १३८॥

तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्।' इति निश्चित्य वर्धमानपुरं गतः। तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः। अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः। तदासौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावशृणोत्। तत्रैक आह—'भोः कर्तः, त्वं किं सम्यङ्न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रद-

त्तम् ।' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम् । तत्र च तस्य परिणितिस्त्वदायत्ता' इति । अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्तं पश्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामास—'अहो, किमेतत् महता कष्टेनोपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम् । तद्व्यर्थ-श्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि ।' इति निश्चित्य तदेव पत्तनं गतः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरस्तं जगाम । अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति । केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाशृणोत् । तत्रैकः प्राह—'भोः कर्तः, किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् । तत्किं न वेत्सि, यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति ।' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं देयं व्यवसायिनाम् । तस्य परिणामस्त्वदायत्तः । तत्किं मामुपालभ्यसि ।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद् ग्रन्थिमवलोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति । ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो, किं मम धनरहितस्य जीवितेन । तदत्र वटवृक्ष आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि ।' एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो भोः सोमिलक, मैवं साहसं कुरु । अहं ते वित्तापहारकः । न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि । तद्गच्छ स्वगृहं प्रति । अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः । तथा मे न स्याद्व्यर्थं दर्शनम् । तत्प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित् ।' सोमिलक आह—'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम् ।' । स आह—'भोः, किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन, यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति । उक्तं च—

इसलिये मैं अवश्य विदेश को जाऊँगा ऐसा निश्चय कर वर्धमानपुर गया। वहाँ तीन वर्ष रहकर और तीन सौ मोहर (सोने के सिक्के) कमाकर फिर अपने घर को रवाना हुआ। अनन्तर, जब कि वह आधी दूर ही पहुँचा था (आधा मार्ग ही पार किया था) कि जंगल में उसके घूमते हुए भगवान् सूर्य अस्त हो गये। तब वह हिंसक-जन्तुओं के भय से बड़ के एक मोटे गुद्दे (स्कन्ध) पर चढ़ कर सो गया। आधी रात के समय, उसने स्वप्न में भयङ्कर

आकृति के दो पुरुष आपस में बातचीत करते हुए सुनें। उनमें से एक बोला—हे कर्तः ! क्या तुम्हें ठीक-ठीक नहीं मालूम कि इस सोमिलक के (भाग्य में) खाने-पहिरने से अधिक सम्पत्ति नहीं है; फिर क्यों तुमने इसे तीन सौ मुहर दी ?' उसने कहा, हे कर्मन् ! (कर्माधिष्ठान देव !) मैं उद्योगी पुरुषों को अवश्य दूँगा, उसकी स्थिति (उसके पास रहना या न रहना) तुम्हारे अधीन है। अनन्तर जब जुलाहा जागा और उसने अपनी सोने की गाँठ देखी तो उसे खाली पाया। तब वह, भाग्य को कोसता हुआ सोचने लगा। यह क्या बात है ? बड़े कष्ट से कमाया हुआ धन अचानक कहीं चला गया। मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया, मेरे पास कुछ भी न रहा। (ऐसी दशा में) मैं अपनी पत्नी और मित्रों को कैसे मुख दिखाऊँगा। यह निश्चय कर उसी नगर को (लौटा) गया। वहाँ, एक ही वर्ष में ५०० मोहरें कमाकर फिर भी अपने घर को चला। फिर रास्ते में जङ्गल में पहुँचने पर सूर्य अस्त हो गया। (परन्तु) धन नष्ट होने के भय से, थकने पर भी उसने विश्राम नहीं किया। केवल घर जाने की उत्कण्ठा से जल्दी-जल्दी चलता रहा। इसी समय उसी प्रकार के (जैसे पहिले स्वप्न में देखे थे) दो आदमी सामने से आते हुए और बातचीत करते हुए सुने। उनमें से एक बोला—हे कर्तः ! तूने इसे ५०० मोहरें क्यों दीं ? क्या तुझे नहीं मालूम कि खाने-पहिरने से अधिक इसके भाग्य में कुछ नहीं है। उसने कहा—हे कर्मन् ! मुझे उद्योगी पुरुषों को अवश्य देना है, उसका परिणाम (फल) तुम्हारे अधीन है; मुझे क्यों दोष देते हो। यह सुनकर सोमिलक ने जब गाँठ (पोटली) देखी तो उसे खाली पाया। तब अत्यन्त दुःखी हो सोचने लगा—मुझ निर्धन के जीने से क्या लाभ ? इसलिये इस बड़ के पेड़ में फाँसी लगाकर प्राण छोड़े देता हूँ। यह निश्चय कर, कुशा की रस्सी बना अपने गले में फांसी लगाकर और शाखा में अपने को बाँधकर ज्यों ही फन्दा खींचना चाहता था त्यों ही एक पुरुष ने, आकाश में स्थित हुए ही यह कहा—हे सोमिलक ! ऐसा साहस मत कर, तेरा धन चुराने वाला मैं हूँ। मैं भोजन वस्त्रादि से अधिक तेरे पास कौड़ी भी सहन नहीं कर सकता; इसलिये अपने घर को चला जा। दूसरी बात यह है कि मैं तुम्हारे साहस से प्रसन्न हूँ तथा मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता इसलिये अपना मनचाहा कोई वर मांगो। सोमिलक ने कहा—अगर यह बात है तो मुझे बहुत सा धन दो। उसने कहा—भोग रहित (काम में न आने वाले) धन को

क्या करेगा ? क्योंकि तुझे भोजन वस्त्रादि से अधिक मिलना नहीं है।
कहा भी है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुभुज्यते ॥ १३९ ॥

उस लक्ष्मी से क्या लाभ जो केवल पत्नी के समान है। (एक पुरुष की ही भोग्य हो) और जो वेश्या के समान सर्वसाधारण पथिकों के काम में न आवे ॥ १३९ ॥

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु। उक्तं च—

सोमिलक ने कहा—यद्यपि भाग्य में भोग नहीं लिखा है। तथापि मैं चाहता हूँ मुझे धन हो। कहा भी है—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसंचयः ॥ १४० ॥

जिस पुरुष के पास धन की राशि है वह कञ्जूस, नीच कुल में पैदा हुआ तथा भले आदमियों से परित्यक्त ही क्यों न हो, लोग उसकी सेवा करते हैं ॥ १४० ॥

तथा च—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च' ॥ १४१ ॥

हे भद्रे ! मैंने पन्द्रह वर्ष तक लटकते हुए (परन्तु) मजबूती से जुड़े हुए (वृषण) देखे (यह देखने के लिये कि) ये गिरते हैं वा नहीं ? ॥ १४१ ॥

पुरुष आह—'किमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पुरुष ने कहा—यह क्या बात है ? वह बोला—

कथा ६

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव। अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य शृगाल्या

शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्, पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ। तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः। एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।' शृगाल आह—'प्रिये, न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति वा न वा। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि। अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कश्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति। नैतद्युज्यते कर्तुम्। उक्तं च—

किसी स्थान में तीक्ष्णविषाण (तेज पैने सींग वाला) नाम का एक बड़ा बैल रहता था। उसने बल के घमण्ड से अपने साथियों (झुण्ड) को छोड़ दिया और सींगों से नदी के किनारे गिराता हुआ इच्छानुकूल मरकतमणि के समान हरी-हरी घास खाता हुआ जंगल में ही रहने लगा। उसी वन में प्रलोभक नाम का शृगाल रहता था। किसी समय वह पत्नी के साथ नदी के किनारे पर आराम से बैठा हुआ था। उसी समय तीक्ष्ण विषाण पानी (पीने) के लिए उसी बालू के स्थान पर आया। उसके लटकते हुए अण्डकोश देखकर शृगाली ने शृगाल से कहा—स्वामिन्! देखो, इस बैल के ये मांसपिण्ड लटक रहे हैं, ये क्षण भर में या एक पहर (३ घण्टे) में गिर पड़ेंगे। यह समझकर आप इसके पीछे लग जाँय। शृगाल ने कहा—'प्रिये! नहीं मालूम' ये कभी गिरेंगे वा नहीं? इसलिये व्यर्थ मेहनत के लिये मुझे क्यों प्रेरित करती हो, यहाँ पर बैठा हुआ मैं तेरे साथ जल के लिये आये हुए चूहों को खाऊँगा। क्योंकि (उनके आने का) यही रास्ता है। और यदि तुमको छोड़कर इस तीक्ष्णविषाण बैल के पीछे जाऊँगा तो कोई दूसरा आकर इस स्थान को घेर लेगा। इसलिये यह करना ठीक नहीं है। कहा भी है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च' ॥१४२॥

जो मनुष्य निश्चित (जिनके मिलने में सन्देह नहीं) वस्तुओं को छोड़कर सन्दिग्ध वस्तुओं को खोजता है—उनके पीछे-पीछे घूमता है उसकी निश्चित वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं—हाथ से जाती रहती हैं (उनको प्राप्त करने के लिये यत्न न करने से) और अनिश्चित तो (पहिले से ही) नष्ट थी (मिलती नहीं थीं)।

शृगाल्याह—'भोः, कापुरुषस्त्वम्। यत्किंचित्प्राप्तं तेनापि सन्तोषं करोषि। उक्तं च—

शृगाली ने कहा—तू नीच आदमी है, क्योंकि जो कुछ मिल गया उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। कहा भी है—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
ससन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ १४३ ॥

छोटी नदी आसानी से भर जाती है, चूहे की अञ्जलि थोड़े में ही भर जाती है। इसी तरह साधारण मनुष्य भी थोड़े से ही प्रसन्न हो जाता है ॥ १४३ ॥

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम्। उक्त च—

इसलिये पुरुष को हमेशा उत्साही होना चाहिए। कहा भी है—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥ १४४ ॥

सम्पत्ति वहीं अचल होकर वास करती है जहाँ उत्साह के साथ काम किये जाते हैं, जहाँ आलस्य का परित्याग है और नीति (कार्यकुशलता) तथा पुरुषार्थ का मेल हो—जहाँ इन दोनों से काम लिया जाता है ॥ १४४ ॥

तद्दैवमिति संचिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः।
अनुयोगं विना तैलं तिलानां नोपजायते ॥ १४५ ॥

यह भाग्य ही है (जो काम करता है) यह सोचकर (मनुष्य को) अपना पुरुषार्थ न छोड़ना जाहिये। (यन्त्र चलाने रूप) पुरुष व्यापार के बिना तिलों का तेल नहीं बनता ॥ १४५ ॥

अन्यच्च—

यः स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते ॥ १४६ ॥

जो मूढ़ थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाता है उस भाग्यहीन पुरुष की पाई हुई भी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है ॥ १४६ ॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेत्ति, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

और जो तुम कहते हो कि ये गिरेंगे या नहीं, सो ठीक नहीं। क्योंकि कहा भी है—

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥ १४७ ॥

अपने सङ्कल्प से न हटने वाले दृढसङ्कल्प पुरुष प्रशंसा के योग्य हैं, ऊँचा पद किसी काम में नहीं आता (पाठान्तर में दृढ़सङ्कल्प पुरुष की प्रशंसनीय उच्चाकांक्षा हमें भली मालूम होती है) बेचारे चातक पक्षी की क्या गणना, (परन्तु दृढ़ता के कारण) इन्द्र भी उसको जल देता है ॥ १४७ ॥

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णाहम्। एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते। तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्' इति। अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

और चूहों के मांस से मैं विरक्त हो गई हूँ—मुझे अरुचि हो गई है। तथा ये मांसपिण्ड गिरने ही वाले हैं। इसलिये अब और कुछ न करो (केवल बैल के पीछे लगो)। अनन्तर शृगाल यह सुनकर चूहों के मिलने के स्थान को छोड़कर तीक्ष्णविषाण के पीछे घूमने लगा। यह ठीक ही कहा है—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ॥ १४८ ॥

इस संसार में मनुष्य तभी तक सब कार्यों में स्वाधीन है जब तक स्त्री के वचनरूपी अंकुश से ताडित होकर रोका नहीं जाता (उनके वश में नहीं होता) ॥ १४८ ॥

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम्।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १४९ ॥

स्त्री के वचन से प्रेरित हुआ मनुष्य अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य, अगम्य को सुगम और अभक्ष्य को भक्ष्य समझता है ॥ १४९ ॥

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमंश्चिरकालमनयत्। न च तयोः पतनमभूत्। ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादि।

इस प्रकार वह पत्नी सहित उसके पीछे बहुत दिनों तक घूमता रहा। परन्तु वे गिरे नहीं। तब पन्द्रहवें वर्ष में शृगाल घबड़ा कर अपनी पत्नी से बोला—'शिथिलौ' इत्यादि।

तयोस्तत्परस्तादपि पातो न भविष्यति। तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः'। अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति। (दे० पृ० ५८)

ये दोनों अंडकोष पीछे (इसके बाद भी) न गिरेंगे। इसलिये अपने उसी स्थान पर चलें। इसलिये मैं कहता हूँ 'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति।

पुरुष आह—'यद्येव तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः। एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः। ततस्तयोः स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीयः। यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, ततस्त्वामपि गुप्तधनं करोमि। अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि' इति। एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः। सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः। अथ सन्ध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुर प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्राल्लब्ध्वास्तमितसूर्ये प्रविष्टः। अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठाद् गृहं प्रविश्योपविष्टः। ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम्। ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः। तत्रैक आह—'भोः कर्तः, किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत् सोमिलकस्यानेन भोजनं दत्तम्। तदयुक्तं त्वया कृतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, न ममात्र दोषः। मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या। तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता' इति। अथासौ यावदुत्तिष्ठति तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूतः क्षणं तिष्ठति। ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः संजातः। सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गतः। तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसम्मानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप। ततश्च निशीथे आह—'भोः कर्तः, अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः। तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति। अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, मम कृत्यमेतत्। परिणतिस्त्वदायत्ता' इति। अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास। तद्दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—'सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपयुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधनः। उक्तं च—

पुरुष ने कहा—'अगर यह बात है तो फिर वर्धमानपुर को जाओ। वहाँ दो वैश्य-पुत्र रहते हैं, एक गुप्तधन और दूसरा उपभुक्तधन। उन दोनों का असलीपन (वह रीति जिससे वे धन को काम में लाते हैं)

जानकर उनमें से एक को पसन्द कर लेना। यदि तुम अनुपमुक्त धन चाहोगे तो तुम्हें भी गुप्तधन कर दूँगा। और यदि दान तथा भोग के योग्य धन चाहोगे तो उपभुक्त धन बना दूँगा। यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया (छिप गया) सोमिलक भी आश्चर्य में पड़ फिर वर्धमान नगर को गया। सायंकाल के समय थका-थकाया किसी प्रकार उस नगर में पहुँचा और गुप्तधन का घर पूछता हुआ सूर्यास्त के बाद किसी प्रकार (उसका घर) पाकर उसमें प्रविष्ट हुआ। पत्नी तथा पुत्र सहित गुप्तधन ने उसे धमकाकर (बाहर निकालना चाहा) परन्तु वह जबर्दस्ती घुस कर बैठ गया। तब उन्होंने भोजन के समय अनादर पूर्वक उसको भी कुछ भोजन दे दिया। वहीं खाकर तथा सोकर आधी रात के समय उसने उन्हीं दो पुरुषों को बातचीत करते हुए देखा। उनमें से एक ने कहा—'हे कर्तः ! तुमने इस गुप्तधन का अधिक (प्रतिदिन से अधिक) व्यय कर दिया, क्योंकि इसने सोमिलक को भोजन दिया है। यह तुमने ठीक नहीं किया।' वह बोला—हे कर्मन् ! पुरुष को उचित लाभ पहुँचाना मेरा काम है और उसका परिणाम तो तुम्हारे अधीन है। सो जब वह उठा तब गुप्तधन विसूचिका से पीड़ित हो दर्द से व्याकुल हो रहा था। तब दूसरे दिन इस बीमारी के कारण उसने उपवास किया (इस प्रकार कर्म ने सोमिलक को कराये हुए भोजन की कमी पूरी कर दी)। सोमिलक भी प्रातःकाल उसके घर से निकल कर उपभुक्तधन के घर गया। उसने उठकर (अगवानी से) सत्कार किया, वह भोजन-वस्त्रादि से सत्कार पा सुन्दर शय्या पर उसी के घर सो गया। तब अर्धरात्रि में उन्हीं दो पुरुषों को आपस में बातचीत करते हुए देखा। उनमें से एक ने कहा—हे कर्तः ! इसने सोमिलक का उपकार (सत्कार) करके बहुत खर्च कर दिया है, यह किस तरह पूरा किया जायेगा। यह सब इसने दूकानदार से मँगवाया है। वह बोला—हे कर्मन्, यह मेरा कर्तव्य है, परिणाम तुम्हारे अधीन है। प्रातःकाल राज-पुरुष राजा की प्रसन्नता का (इनाम) धन लेकर आया और वह उपभुक्तधन को दे दिया। यह देख सोमिलक ने सोचा—संचय (संग्रह) न करने वाले यह उपभुक्तधन ही अच्छा है न कि वह कञ्जूस गुप्तधन। कहा भी है—

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५० ॥

वेदों (वेदाध्ययन) का फल अग्निहोत्र है, शास्त्रज्ञान से आचार तथा धन

की प्राप्ति होती है, आनन्द और पुत्रप्राप्ति के लिये विवाह किया जाता है, दान करने तथा भोगने के लिये धन होता है ॥ १५० ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तफलं करोतु। न कार्यं मे गुप्तधनेन।' ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः संजातः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति (दे० पृ० ५२)। तद्भद्र हिरण्यक, एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः। अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यबन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम्। उक्तं च—

इसलिये विधाता मुझे दत्तभुक्तधन (जिसका धन दान और भोग में काम आवे) कर दे, मुझे गुप्त (काम में न आनेवाले) धन से कोई मतलब नहीं—मैं गुप्तधन होना नहीं चाहता। इसलिये मैं कहता हूँ 'अर्थस्योपार्जनम्' इत्यादि।

सो मित्र हिरण्यक ! ऐसा जानकर तुम धन के लिए सन्ताप मत करो। विद्यमान रहता हुआ भी जो धन भोग में न आ सके उसको नहीं के बराबर समझना चाहिए। कहा भी है—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५१ ॥

घर के बीच में गाड़े हुए धन से यदि मनुष्य धनवान् समझे जाते हैं तो हम भी उसी धन से धनवान् क्यों न होवें ? (भोग न करना दोनों के लिए समान है) ॥ १५१ ॥

तथा च—

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५२ ॥

कमाये हुए धनों का दान ही उसकी रक्षा है जिस प्रकार कि तालाब में भरे हुए जल का परिवाह—नाली के द्वारा निकाला जाना ही (उसकी रक्षा है) तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार तालाब में भरे हुए जल को नाली के द्वारा यदि न निकाला जाय तो वह सड़कर विकृत हो जायेगा और उससे आसपास के मनुष्यों की हानि होगी। उसी तरह दान न दिया हुआ धन अजीर्ण बनकर धनी को पाप कर्मों में लिप्तकर उसका विनाश कर देगा ॥ १५२ ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्तव्यः।
पश्येह मधुकरीणां संचितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५३ ॥

धन का दान और भोग करना चाहिये, सञ्चय न करना चाहिये। देखो—मधुमक्षिकाओं के संग्रह किये हुए मधुरूप धन को दूसरे लोग हर ले जाते हैं ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५४ ॥

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन दशायें होती हैं। जो मनुष्य न देता है और न भोगता है उसकी (उसके धन की) तीसरी दशा (नाश) होती है ॥ १५४ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्तव्यम्, यतो दुःखाय तत्। उक्तं च—

ऐसा जानकर ज्ञानियों को घर में गाड़ने के लिए धनोपार्जन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह धन दुःखदायी होता है, कहा भी है—

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशयाः।
तप्तग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १५५ ॥

जो मूर्ख, धन आदि भोग्य वस्तुओं में सुख की आशा करते हैं, वे धूप से सन्तप्त होकर शीतलता के लिये अग्नि का सेवन करते हैं ॥ १५५ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १५६ ॥

सर्प वायु पीते हैं (वायु पर जीवन व्यतीत करते हैं) परन्तु वे दुर्बल नहीं होते, जंगली हाथी सूखी घास खाकर बलवान् होते हैं, मुनि लोग कन्द फल खाकर ही समय बिता देते हैं। इसलिए पुरुष के लिए सन्तोष ही उत्तम खजाना है ॥ १५६ ॥

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५७ ॥

धन के लोभी, अतएव (उसकी प्राप्ति के लिए) इधर-उधर भटकने वाले पुरुषों को वह सुख कहाँ मिल सकता है, जो सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त हुए शान्तचित्त वाले पुरुषों को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

पीयूषमिव संतोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसंतोषवतां पुनः ॥ १५८ ॥

अमृततुल्य सन्तोष का पान करने वाले पुरुषों को महान् आनन्द होता है लेकिन असन्तोषी जनों को लगातार दुःख ही होता रहता है ॥ १५८ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥ १५९ ॥

मन को वश में करने से सभी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं, जैसे कि मेघों द्वारा सूर्य के ढके जाने पर उसकी किरणें भी तिरोहित हो जाती है ॥१५९॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६० ॥

शान्त ऋषियों ने इच्छाओं की निवृत्ति को ही मन को शान्ति कहा है। जैसे अग्निसेवन से प्यास नहीं मिटती उसी तरह इच्छा की निवृत्ति धन से नहीं होती ॥ १६० ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ॥ १६१ ॥

धन के लिए मनुष्य अनिन्दनीय पुरुषों की निन्दा करते और जो प्रशंसा के योग्य नहीं हैं उनकी प्रशंसा करते हैं। धन के लिए लोग क्या नहीं करते ? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥ १६१ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १६२ ॥

धर्म कार्यों के लिए भी जो मनुष्य धन (कमाना) चाहता है, उसकी यह इच्छा भी उत्तम नहीं है, क्योंकि कीचड़ लगाकर धोने की अपेक्षा उसका दूर से (भी) न छूना ही अच्छा है ॥ १६२ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
संतोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १६३ ॥

संसार में दान के समान दूसरा कोई खजाना नहीं, लोभ के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं, सदाचार के समान कोई भूषण नहीं और सन्तोष के समान दूसरा कोई धन नहीं है ॥ १६३ ॥

दारिद्रयस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १६४ ॥

मानरूपी धन की न्यूनता (अभाव) ही दरिद्रता का अन्तिम स्वरूप है। क्योंकि शम्भु के पास धन के नाम से एक बूढ़ा बैल ही है फिर भी वे परमेश्वर समझे जाते हैं ॥ १६४ ॥

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १६५ ॥

सज्जन पुरुष गिरते हुए भी गेंद के समान गिरते हैं—गिरकर फिर उठते हैं। परन्तु मूर्ख मिट्टी के ढेले के समान गिरता है—गिरता है तो उठता नहीं ॥१६५॥

एवं ज्ञात्वा भद्र, त्वया संतोषः कार्यः' इति। मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—'भद्र, मन्थरको यदेवं वदति तत्त्वया चित्ते कर्तव्यम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

हे भद्र ! यह जानकर तुम्हें सन्तोष करना चाहिये। मन्थरक के ये वचन सुनकर कौआ बोला—मन्थरक, जो ऐसा कह रहा है वह तुम्हें ध्यान में रखना चाहिये। अथवा यह सत्य ही कहा है—

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६६ ॥

हे राजन् ! हमेशा प्रिय बोलनेवाले (खुशामदी) पुरुष आसानी से मिल जाते हैं। परन्तु हितकारी अप्रिय वचन के प्रवक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १६६ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥ १६७ ॥

इस लोक में जो मनुष्य अप्रिय लगनेवाले (परन्तु) हितकर वचन कहते हैं वे ही सच्चे मित्र कहे जाते हैं और लोग तो नाममात्र के ही मित्र होते हैं ॥ १६७ ॥

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः। अथायान्तं ससंभ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः। हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः। मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः। अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—'एह्येहि सखे मन्थरक, मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसि

प्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं न मानुषसंभवः' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक, यथायं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त एषः, नूनं लुब्धकत्रासितः। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा' इति। उक्तं च—

जिस समय वे इस प्रकार बातचीत कर रहे थे उसी समय चित्राङ्ग नामक हरिण शिकारियों से डरा हुआ उस तालाब में घुसा। उसको आता हुआ देख घबड़ाकर लघुपतनक जल्दी से वृक्ष पर चढ़ गया, हिरण्यक समीपवर्ती सरपत (मूँज) की झाड़ी में घुस गया और मन्थरक तालाब में प्रविष्ट हो गया। अनन्तर लघुपतनक ने मृग को अच्छी तरह जानकर मन्थरक से कहा—'मित्र मन्थरक! आओ आओ! यह हरिण अधिक प्यासित होकर तालाब में घुसा है, उसी का यह शब्द है, किसी मनुष्य का नहीं।' यह सुनकर मन्थरक देशकाल के अनुसार बोला—'हे लघुपतनक! जैसा यह मृग दिखाई पड़ता है कि लम्बी-लम्बी वेग से श्वास ले रहा है और घबड़ाई हुई दृष्टि से पीछे की तरफ देख रहा है, इससे मालूम पड़ता है कि यह प्यासा नहीं है किन्तु शिकारियों से डरा हुआ है। इसलिये देखो, इसके पीछे व्याध आते हैं या नहीं?' कहा भी है—

'भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित्' ॥ १६८ ॥

भयभीत हुआ पुरुष बारम्बार लम्बी सांस लेता और चारों ओर देखता है तथा कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिलती ॥ १६८ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञातं त्वया सम्यङ् मे त्रासकारणम्। अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्धारितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्यापादितं भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्। तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भोश्चित्राङ्ग, श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

यह सुनकर चित्राङ्ग बोला—हे मन्थरक! तुमने मेरे भय का कारण ठीक-ठीक समझ लिया है। मैं व्याध के बाण के प्रहार से बचकर बड़ी कठिनता से आया हूँ। मेरे झुण्ड (मेरे साथी) को उन शिकारियों ने मार डाला होगा। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, मुझे कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ शिकारियों की पहुँच न हो। यह सुन मन्थरक बोला—हे चित्राङ्ग! नीतिशास्त्र की बात सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः॥ १६९॥

शत्रु का सामना होने पर उससे बचने के दो उपाय नीतिशास्त्र में कहे हैं। एक तो हाथों को चलाना—होशियारी से अस्त्र चलाना और दूसरा पैरों में वेग होना (भागना) ॥ १६९ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः।' अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्त्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः। तच्चित्राङ्ग, त्वं विश्रब्धो वनाद्बहिर्भव। ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

इसलिए, शीघ्र हीं घने वन में चले जाओ। जब तक यहाँ भी वह दुष्ट शिकारी न आ जाय। इसी समय लघुपतनक ने जल्दी से आकर कहा—हे मन्थरक? वहुत सा मांस लिया हुआ वह शिकारी अपने घर की तरफ चला गया। इसलिये हे चित्राङ्ग! तुम निःशङ्क हो जल से बाहर आओ। तब वे चारों ही आपस में मित्रभाव से उस तालाब के किनारे रहने लगे और दोपहर के समय वृक्ष के नीचे आपस में मनोहर विषयों पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए आनन्द से समय बिताने लगे। यह ठीक ही कहा है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः।
विनापि संगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते॥ १७०॥

वे विद्वान् पुरुष जिन्होंने मनोहर विषयों पर वार्तालाप के आनन्दानुभव से उत्पन्न रोमाञ्चरूपी कञ्चुक (कुर्ता) धारण किया है, वे स्त्री के साथ सम्भोग के बिना भी सुख से रहते हैं ॥ १७० ॥

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम्॥ १७१॥

जो पुरुष सुभाषितरूपी धन का संग्रह नहीं करता वह प्रस्ताव—परस्पर वार्तालाप—रूपी यज्ञों में क्या दक्षिणा देगा?—किस प्रकार सभ्य पुरुषों को प्रसन्न कर सकेगा ॥ १७१ ॥

तथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः।
यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम्॥ १७२॥

जो पुरुष एक बार कहे हुए (उच्चारण किये हुए वचन) को धारण नहीं कर सकता, जो स्वयं सूक्तियों का निर्माण नहीं कर सकता और जिसके पास सूक्तियों का संग्रह नहीं है—जिसे सूक्तियाँ याद नहीं हैं—वह पुरुष सुभाषित नहीं कह सकता ॥ १७२ ॥

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायातः । अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुमारब्धाः—'अहो, किमद्य सुहृन्न समायातः । किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः, उत लुब्धकैः, अथवा अनले प्रपतितो गर्ते विषमे वा नवतृणलौल्यात्' इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

एक दिन गोष्ठी के समय चित्रांग नहीं आया। तब वे सब व्याकुल होकर परस्पर कहने लगे—अहो ! आज हम लोगों के मित्र चित्रांग क्यों नहीं आये ? क्या उन्हें कहीं सिंहादि ने तो नहीं मार डाला या व्याधों ने तो कहीं पकड़ नहीं लिया या अग्नि में तो नहीं जल मरा अथवा हरी घासों के लोभ से किसी गहरे गड्ढे में तो नहीं गिर गया । अथवा सत्य ही कहा है—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥ १७३ ॥

बन्धु लोग प्रीति के कारण अपने घर के बगीचे में भी गए हुए मित्र के लिए (तरह-तरह के) अनिष्ट की आशङ्का किया करते हैं। फिर यदि वह (मित्र) ऐसे जङ्गल में स्थित हो, जहाँ अनेक प्रकार के सङ्कट देखे गये हों और जो भयावह हो तो उसके विषय में कहना ही क्या है ? ॥ १७३ ॥

अथ मन्थरको वायसमाह—'भो लघुपतनक, अहं हिरण्यकश्च तावद्द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वमरण्यं शोधय यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि' इति । तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचद्—'भद्र, किमिदम् ।' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत् ।

मन्थरक ने कौवे से कहा—हे लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनों ही धीरे-धीरे चलने के कारण उनकी तलाश करने में असमर्थ हैं इसलिये तुम जाकर जङ्गल में ढूँढ़ो, कदाचित् वे जिन्दा मिल जावें। यह सुनकर लघुपतनक ज्योंही कुछ दूर पहुँचा त्योंही तलैया के किनारे फन्दे में फँसा हुआ चित्राङ्ग

(दिखाई पड़ा) उसे देखकर शोक से व्याकुल मन हो उससे बोला—'भद्र ! यह क्या है ? (यह कैसे हुआ ?) चित्राङ्ग भी कौए को देखकर पहिले से भी अधिक दुःखी हुआ । क्योंकि यह ठीक ही है—

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७४ ॥

लघुता प्राप्त होने या नष्ट होने पर प्राणियों के शोक का वेग, प्रियजनों के दर्शन से और भी अधिक बढ़ जाता है ॥ १७४ ॥

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह --'भो मित्र, संजातोऽयं तावन्मम मृत्युः । तद्युक्तं संपन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं संजातम् । उक्तं च—

तब आँसुओं को अन्त में रोककर चित्राङ्ग ने लघुपतनक से कहा—हे मित्र ! मेरी मृत्यु तो हो ही गई—मेरी मृत्यु तो उपस्थित ही हुई, अतः यह अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हो गये । कहा भी है—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १७५ ॥

प्राणों का नाश (मृत्यु) उपस्थित होने पर यदि मित्र के दर्शन हों तो वह दोनों प्रकार से सुखदायी होता है—चाहे फिर जीवित रहे या मृत्यु हो जाय ॥ १७५ ॥

तत्क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

सो प्रणय के कारण सुभाषित गोष्ठियों में मैंने जो कुछ कहा उसे क्षमा करना और मेरी ओर से हिरण्यक तथा मन्थरक से कहना—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम् ।
तत्क्षन्तव्य युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥ १७६ ॥

जाने या बिना जाने जो अप्रिय वचन मैंने कहे हों, आप लोग उसे प्रीतिपूर्ण मन से क्षमा कर देंगे ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्मित्रैर्विद्यमानैः । यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि । अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्तं च—

यह सुनकर लघुपतनक बोला—भद्र ! हमारे जैसे मित्रों के जीवित रहते

हुए मत डरो। मैं शीघ्र ही हिरण्यक को लेकर आता हूँ। दूसरी बात यह भी है कि धैर्यशाली सत्पुरुष, विपत्ति में घबड़ाते नहीं हैं। कहा भी है—

'संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्' ॥ १७७ ॥

जिस पुरुष को संपत्ति में हर्ष, विपत्ति में विषाद और युद्ध में कायरता नहीं आती ऐसे त्रिलोक श्रेष्ठ पुत्र को माता विरल ही उत्पन्न करती है ॥ १७७ ॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान्। हिरण्यकं च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्राङ्गसमीपे गतः। सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया संश्लिष्ट आह—

यह कहकर चित्रांग को समझा-बुझाकर लघुपतनक वहाँ गया जहाँ हिरण्यक और मंथरक बैठे थे। वहाँ जाकर चित्रांग के पाश-बन्धन का समाचार कहा। (यह सुनकर) मित्र चित्रांग के पाश-बन्धन को काटने के लिए उद्यत हिरण्यक को अपनी पीठ पर लादकर लघुपतनक शीघ्रता से चि ांग के समीप पहुँचा। चित्रांग ने अपने मित्र चूहा को देखकर जीने की आशा से बोला—

'आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः ॥ १७८ ॥

विपत्ति का नाश करने के लिए विद्वानों को अच्छे मित्र करना चाहिए। जो मित्रों से हीन रहता है, वह विपत्ति को सरलता से पार नहीं कर सकता ॥ १७८ ॥

हिरण्यक आह—'भद्र, त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः। तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः।' स आह—'भो', न कालोऽयं विवादस्य। तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति यावद्द्रुततरं कर्तव्येमं मत्पादपाशम्।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः—'किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद् बिभेषि। ततः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः संपन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति। तेन त्वां पृच्छामि।' स आह—'भद्र, कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्तं च—

हिरण्यक ने कहा—भद्र ! तुम तो नीतिशास्त्र के जाननेवाले तथा चतुर बुद्धि हो फिर इस जाल में कैसे फँस गये ? वह बोला—'यह समय विवाद (पूछताछ) करने का नहीं है। इसलिये जब तक वह दुष्ट व्याध न आवे तब तक

शीघ्र मेरे इस पैर के फन्दे को काट दो।' यह सुन हँसकर हिरण्यक ने कहा—'क्या मेरे आने पर भी व्याध से डरते हो। (चूँकि) आप जैसे नीतिशास्त्रज्ञ भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये मुझे शास्त्र के विषय में बड़ी अश्रद्धा हो गई है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ।' वह बोला—भद्र! दैवभाग्य बुद्धि को भी हर लेता है। कहा भी है—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥ १७९॥

यम पाश में बँधे और दुर्भाग्य से हत चित्तवाले महात्माओं की बुद्धि भी कुटिलगामिनी हो जाती है॥ १७९॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याप्यतिपण्डिताः॥ १८०॥

ब्रह्मा ने मस्तक में जो वर्णमाला लिख दी है उसे विद्वान् पुरुष भी अपनी बुद्धि द्वारा मिटा नहीं सकते॥ १८०॥

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसंतप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैस्तं प्रदेशमाजगाम। तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो, न शोभनमापतितम्।' हिरण्यक आह—'किं स लुब्धकः समायाति।' स आह—'आस्तां तावल्लुब्धकवार्ता। एवं मन्थरकः समागच्छति। तदनीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमप्यस्य कारणान्नूनं व्यापादनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति। तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि। त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि। चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति। एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि।' अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः। हिरण्यक आह—'भद्र, न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः। तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति।' मन्थरक आह—'भद्र, किं करोमि। न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम्। तेनाहमत्रागतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

जब वे दोनों बातचीत कर रहे थे उसी समय मन्थरक धीरे-धीरे उस स्थान पर आया, उसका हृदय मित्र की विपत्ति से जल रहा था—दुःखी हो रहा था। उसे देखकर लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—वह बात अच्छी नहीं हुई। हिरण्यक बोला—क्या वह शिकारी आ रहा है। उसने कहा—'शिकारी

की बात जाने दो, यह मन्थरक आ रहा है, इसने यह काम नीति विरुद्ध किया है; क्योंकि हमलोग भी इनके कारण नाश को प्राप्त होंगे। अगर वह व्याध आ गया तो मैं आकाश में उड़ जाऊँगा, तुम भी बिल में घुस कर अपनी रक्षा कर लोगे और चित्रांग भी तेजी से इधर-उधर (दूसरी दिशा को) भाग जायगा। परन्तु इस जलचर की स्थल (जमीन) में क्या हालत होगी—यह क्या करेगा? यही सोचकर मैं घबड़ा रहा हूँ।' उसी समय वह मन्थरक पहुँच गया। हिरण्यक ने कहा—'भद्र! तुमने यहाँ आकर उचित नहीं किया, इसलिये जल्दी ही लौट जाओ जब तक वह व्याध न आवे।' मन्थरक ने कहा—'भद्र! क्या करूँ मैं वहाँ रहकर मित्र की विपत्ति रूपी अग्नि की जलन सहन नहीं कर सका इसलिये यहाँ चला आया। अथवा ठीक ही कहा है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्याः स्युः।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात्॥ १८१॥

यदि उत्तम औषधि के समान (पीड़ा हरने वाला) मित्रों का संसर्ग न हो तो प्रिय बन्धुओं का वियोग और धन का नाश किससे सहा जाय—उसे कौन सह सके? कोई भी नहीं (बन्धुओं के वियोग और धन-नाश का शोक मित्रों के संसर्ग से ही दूर हो सकता है)॥ १८१॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधाः॥ १८२॥

प्राणों का विनाश (मृत्यु) अच्छा, परन्तु आप जैसों (मित्रों) का वियोग अभीष्ट नहीं, क्योंकि प्राण तो दूसरे जन्म में फिर भी मिल जाते हैं किन्तु आप जैसे मित्र पुनः नहीं प्राप्त हो सकते॥ १८२॥

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागतः। तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः। अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः। लघुपतनको वृक्षमारूढः हिरण्यकश्च समीपवर्तिबिलं प्रविष्टः। अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्ययं कूर्म आहारार्थं सम्पादितः। तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यति। एवं विचिन्त्य तं दर्भैः सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः। अत्रान्तरे तं नीय-

मानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यदेवयत्—'कष्टं भोः, कष्टमापतितम् ।

जब वह इस प्रकार कह रहा था, उसी समय कान तक धनुष खींचे हुए शिकारी भी आ गया। उसको देखकर चूहे ने चित्राङ्ग की ताँत की बनी हुई रस्सी (पाश) तुरन्त काट दी। तब चित्राङ्ग पीछे की ओर देखता हुआ तेजी से भागा। लघुपतनक वृक्ष पर चढ़ गया, और हिरण्यक पास के बिल में घुस गया। तब हिरन के चले जाने से निष्फल प्रयत्न होने के कारण उस शिकारी का मुख मलिन (उदास) हो गया, उसने मन्थरक को जमीन पर धीरे-धीरे जाता हुआ देखकर सोचा—यद्यपि विधाता ने हिरन को हर लिया (छीन लिया) तो भी भोजन के लिये यह कछुआ तो दे दिया है, इसलिये आज इसी के मांस से मेरे कुटुम्ब का भोजन होगा। यह सोचकर वह कछुए को घासों से ढक कर धनुष पर लटका कर कन्धे पर रख घर को चल दिया। इस प्रकार उसको ले जाते हुए देखकर हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो विलाप करने लगा। अहो, कैसा दुःख आ पड़ा ?

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८३ ॥

जब तक मैं समुद्र के समान भयंकर एक दुःख को पार नहीं करता (उसे पूरे तौर से नहीं भोग पाता) तब तक दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है। (ठीक ही है–) छिद्रों में—विपत्ति के समय—विपत्तियाँ बढ़ जाती हैं अर्थात् विपत्ति अकेली कभी नहीं आती ॥ १८३ ॥

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमं च पदे पदे ॥ १८४ ॥

तब तक मनुष्य समभूमि (चौरस) में बिना गिरे चलता है जब तक आराम से चला जाता है किन्तु एक बार भी पदच्युत होने पर पद-पद में ठोकर खाता है ॥ १८४ ॥

यन्नम्रं सरलं चापि तच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १८५ ॥

ऐसा धनुष मिलना कठिन है जो अच्छे बाँस का बना हुआ—लचकदार और सीधा हो तथा युद्धादि में टूटने वाला न हो। तथा ऐसा मित्र और पत्नी

भी प्राप्त होनी कठिन है जो अच्छे कुल में उत्पन्न हो और विनयशील तथा सरल (निष्कपट) स्वभाव का हो ॥ १८५ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १८६ ॥

पुरुषों का अभिन्न हृदय मित्र में जैसा विश्वास होता है, वैसा विश्वास न माता में न स्त्री में न भाई में और न पुत्र में होता है ॥ १८६ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मादपहृतम्। अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात्। उक्तं च—

यदि दैव ने मेरा धन नष्ट कर दिया तो कोई बात नहीं (उससे मुझे उतना दुःख नहीं है) फिर (जीवन) मार्ग में थके हुए (जीवन कष्टों से दुःखित) मुझ आश्रयहीन का सहारा मित्र क्यों छीन लिया ? मित्र और भी हैं परन्तु मन्थरक के समान कोई न होगा। कहा भी है—

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १८७ ॥

निर्धनता में महान् लाभ, गोप्य बातों का कहना और विपत्ति से छुटकारा ये तीन मित्र के मुख्य लाभ हैं ॥ १८७ ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे। तत्किं ममोपर्यनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हन्त विधिः ? यत आदौ तावद्वित्तनाशः, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो मित्रवियोग इति। अथवा स्वरूपमेतत्सर्वेषामेव जन्तूनां जीवितधर्मस्य। उक्तं च—

इस मन्थरक के बाद मेरा कोई मित्र नहीं है (मन्थरक के समान दूसरा कोई मित्र नहीं) खेद की बात है, न मालूम क्यों ? दैव मेरे ऊपर व्यसन रूपी बाणों की निरन्तर वर्षा करता है ? पहिले धन का नाश हुआ, फिर कुटुम्बीजन छूटे, अनन्तर अपना देश छूटा और उसके बाद मित्र वियोग हुआ। अथवा सब ही प्राणियों की जीवन दशा का यही स्वरूप है—सबका जीवन इसी प्रकार कि दुःखादि से परिपूर्ण रहता है। कहा भी है—

कायः संनिहितापाय संपदः क्षणभङ्गुराः।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥१८८॥

सभी देहधारियों के शरीर के साथ दुःख लगे हुए हैं (अथवा सबके ही शरीर विनश्वर हैं) सम्पत्तियाँ क्षण में नष्ट होने वाली हैं, प्रियजनों का संयोग भी वियोग के साथ (बँधा हुआ) है ॥ १८८ ॥

तथा च—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८९ ॥

घाव में निरन्तर चोट लगती है, धन नाश होने पर पेट की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है—भूख बढ़ जाती है, विपत्ति में शत्रुता भी बढ़ जाती है, यह सच है कि विपत्ति के समय अनेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं ॥ १८९ ॥

अहो साधुक्त केनापि—

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिर्विश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९० ॥

भय उपस्थित होने पर उससे बचाने वाले, प्रेम और विश्वास के आश्रय, रत्नस्वरूप 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये हैं ? ॥ १९० ॥

अत्रान्तरे चाक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ। अथ हिरण्यक आह—'अहो, किं वृथा प्रलपितेन। तद्यावदेष मन्थरको दृष्टिगोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्' इति। उक्तं च—

इसी अवसर पर विलाप करते चित्राङ्ग और लघुपतनक उसी जगह पहुँच गये। तब हिरण्यक ने कहा—व्यर्थ विलाप करने से क्या लाभ ? इसलिये जब तक यह मन्थरक आँखों से ओझल न हो तब तक इसके छुड़ाने का कोई उपाय सोचना चाहिए। कहा भी है—

'व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत्।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥१९१॥

जो मनुष्य विपत्ति में फँसकर चित्त की अस्थिरता (घबड़ाहट) के कारण सिर्फ विलाप करता है उसका वह विलाप उस विपत्ति को बढ़ाता ही है, (अतएव) वह उसके पार नहीं पहुँच पाता—उससे छूट नहीं सकता ॥१९१॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९२ ॥

नीतिशास्त्रज्ञ विषाद (अधीरता) को छोड़ कर विपत्ति के नाश करने के उद्योग को ही उसकी (व्यसन की) औषध कहते हैं ॥ १९२ ॥

अन्यच्च—

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम् ।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः' ॥१९३॥

और भी—प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये, अप्राप्त की प्राप्ति के लिये तथा विपत्ति में फँसे हुए (पुरुष की) रक्षा के लिये जो सलाह की जाती है वही उत्तम सलाह है ॥ १९३ ॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भोः यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः । एष चित्राङ्गोऽस्य मार्गे गत्वा किंचित्पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु । अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्देश्चञ्चुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति । अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्डनीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति ।' चित्राङ्ग आह—'भो, भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः । नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः' इति । उक्तं च—

यह सुन कौवा बोला—'यदि यह बात है तो मेरी बात मानो । यह चित्राङ्ग शिकारी के रास्ते में किसी तालाब के पास पहुँच उसके किनारे पर बेहोश होकर पड़ जावे (लेट जावे), मैं भी इसके सिर पर बैठकर धीमे-धीमे (हलके-हलके) चोंच से प्रहार करूँगा जिससे कि वह दुष्ट व्याध मेरे चोंच के प्रहार करने से इसको मरा हुआ समझकर मन्थरक को भूमि पर डालकर मृग के लिये दौड़ेगा । इसी मौके पर तुम कुशा के बने हुए पाश काट देना जिससे मन्थरक शीघ्र तालाब में घुस जावेगा ।' चित्राङ्ग ने कहा—'तुमने यह उपाय बहुत अच्छा सोचा—तुम्हारी यह सलाह बहुत उत्तम है । निश्चय ही मन्थरक को छूटा हुआ समझो ।' कहा भी है—

'सिद्धं वा यदि वाऽसिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत् ।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति [illegible]ः ॥१९४॥

सब मनुष्यों के चित्त की प्रसन्नता—उमङ्ग ही काम की सफलता या असफलता को पहिले ही सूचित कर देती है, इसको बुद्धिमान् पुरुष ही जान पाते हैं, अन्य नहीं जान सकते ॥ १९४ ॥

तदेवं क्रियताम्' इति । तथाऽनुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गान्निपल्लतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत् । तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्या[illegible]

तयत्—'नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा कथमप्येतद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात्। तदेनमपि तावद्गृह्णामि।' इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत्। एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्रा-प्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः। चित्राङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तल उत्थाय वायसेन सह पलायितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत्पश्यति, तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रोपविश्येमं श्लोकमपठत्—

इसलिए ऐसा करना चाहिए। वैसा करने पर उस व्याध ने रास्ते के पास वाले तालाब के किनारे पर कौवे सहित चित्राङ्गको उसी हालत में (जैसा पहिले कह आये हैं) देखा। उसको देखकर प्रसन्नचित्त हो सोचने लगा—पाश से बाँधे जाने की पीड़ा से पीड़ित यह बेचारा हिरन आयुशेष होने के कारण किसी प्रकार जाल तोड़कर जब इस बन में पहुँचा तब ही मर गया। अच्छी तरह बँधा होने से यह कछुआ मेरे वश में तो है ही—यह कहीं जा नहीं सकता। इसलिये इसको (हरिण) को भी ले लूँ। यह निश्चय कर कच्छप को जमीन पर डालकर मृग की तरफ दौड़ा। इसी बीच में हिरण्यक ने अपने वज्र के समान दाँत रूपी शस्त्र से उन कुशों के वेष्टनों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। मन्थरक तृण-राशि में से निकल कर पास के तालाब में घुस गया। चित्राङ्ग भी उसके पहुँचने से पूर्व ही कौवे के साथ भाग गया। तब लज्जित और दुःखी व्याध जब तक लौट कर (कछुए के पास) आया तब तक (उसके पूर्व ही) कछुआ भी चला गया। तब उसने वहाँ बैठकर यह श्लोक पढ़ा—

'प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
सम्प्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवादेशतः।
क्षुत्क्षामो[illegible] भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरुते तच्चापि सह्यं मया' ॥१९५॥

रे दैव! पहिले तो तुमने जाल में फँसा हुआ भी मेरा यह मृग हर लिया, फिर कछुआ पाया वह भी निश्चय ही तुम्हारी ही आज्ञा से जाता रहा। पत्नी और बच्चों से बिछुड़ा हुआ भूखा-प्यासा मैं इस बन में घूम रहा हूँ। तुमने जो कुछ न किया हो वह भी कर लो मैं उसे भी सहने के लिये तैयार हूँ ॥१९५॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरं गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मानं मन्यमानास्तदेव सरः सम्प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्यः। न च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यमिति। उक्तं च यतः--

इस प्रकार तरह-तरह से विलाप करके अपने घर चला गया। तब उस व्याध के बहुत दूर चले जाने पर वे सब—कौआ, कछुआ, मृग और चूहा—अत्यन्त आनन्दित हो एक दूसरे का आलिङ्गन कर अपने को दुबारा उत्पन्न समझते हुए उसी तालाब पर पहुँच कर बड़े आनन्द से सुभाषित कथाओं के द्वारा समय बिताने लगे। यह जानकर समझदार मनुष्य को मित्र-संग्रह करना चाहिए और मित्र के साथ कपट—व्यवहार न करना चाहिए। कहा भी है—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन॥ १९६॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्।

इस संसार में जो मनुष्य मित्र बनाता है और उन के साथ कपट-व्यवहार नहीं करता वह किसी प्रकार भी शत्रुओं से पराजय को प्राप्त नहीं होता॥१९६॥

द्वितीय तन्त्र समाप्त।

Bhavan's Sri Sankaracharya Sanskrit Bharatiya Vidya ... 736

Bharatiya Vidya Bhavan's Sri Sankara[illegible] [illegible]krit Mahavidyala[illegible]